

Chapter सात

विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षिति-तलोद्धरणाय बिभ्रत्

क्रौडीं तनुं सकल-यज्ञ-मयीमनन्तः ।

अन्तर्महार्णव उपागतमादि-दैत्यं

तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्र-धरो ददार ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; यत्र—उस समय (जब); उद्यतः—तत्पर; क्षिति-तल—पृथ्वीलोक के; उद्धरणाय—उठाने के लिए; बिभ्रत्—धारण किया; क्रौडीम्—लीलाएँ; तनुम्—रूप; सकल—समग्र; यज्ञ-मयीम्—यज्ञों से युक्त; अनन्तः—असीम; अन्तर्—ब्रह्माण्ड के भीतर; महा-अर्णवे—विशाल गर्भ सागर में; उपागतम्—पहुँचकर; आदि—प्रथम; दैत्यम्—असुर को; तम्—उस; दंष्ट्रया—दाढ़ से; अद्रिम्—उड़ते पर्वत; इव—सदृश; वज्र-धरः—वज्रों को धारण करने वाला; ददार—छेद दिया ।

ब्रह्माजी ने कहा : जब अनन्त शक्तिशाली भगवान् ने लीला के रूप में ब्रह्माण्ड के गर्भोदक नामक महासागर में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठाने के लिए वराह का रूप धारण किया, तो सबसे पहले एक असुर (हिरण्याक्ष) प्रकट हुआ। भगवान् ने उसे अपने अगले दाँत से विदीर्ण कर दिया।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ से ही ब्रह्माण्डों के लोकों में, प्रमुख रूप से असुर तथा देवता अर्थात् वैष्णव—जीवों की ये दो श्रेणियाँ रही हैं। इस ब्रह्माण्ड के प्रथम देवता ब्रह्माजी हैं और हिरण्याक्ष इसका प्रथम असुर है। कतिपय निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सभी लोक वायु में भारहीन गेंद के समान तैरते हैं और ज्योंही ये परिस्थितियाँ विचलित होती हैं, ये लोक आधे ब्रह्माण्ड में व्याप्त गर्भोदक सागर में गिर पड़ते हैं। दूसरे आधे गोलाद्ध में जो गोल गुंबद के रूप में है असंख्य लोकान्तर प्रणाली स्थित हैं। भारहीन वायु में लोकों का तैरना गोलकों की भीतरी संरचना के कारण है। आजकल तेल प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार पृथ्वी के गर्भ का वेधन किया जाता है, वह आधुनिक असुरों द्वारा एक प्रकार का उत्पात है, जिससे पृथ्वी का तैरना (संतरण) अत्यन्त हानिकारक रूप में विचलित हो सकता है। ऐसा ही उत्पात पहले हिरण्याक्ष (जो स्वर्णदस्यु था) के समय उत्पन्न हुआ था जिससे पृथ्वी

भारहीन स्थिति से निकल गई थीं और गर्भोदक सागर में गिर गई थी। फलतः समग्र भौतिक सृष्टि के पालनहार के रूप में भगवान् ने उपयुक्त थूथनी वाले विशाल शूकर का रूप धारण करके पृथ्वी को गर्भोदक सागर से बाहर निकाला। परम वैष्णव कवि श्रीजयदेव गोस्वामी का गीत है—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,

शशिनि कलंककलेव निमग्ना।

केशव धृतशूकररूप,

जय जगदीश हरे ॥

“हे केशव! हे शूकर रूप धारण करने वाले परमेश्वर! हे भगवान्! पृथ्वी आपकी दाढ़ों पर स्थित थी और वह कलंक युक्त चन्द्रमा की भाँति प्रतीत हो रही थी।”

भगवान् के अवतार का ऐसा लक्षण होता है। भगवान् का अवतार कुछ मनचले लोगों का मनगढ़ंत विचार नहीं, जो अपनी कल्पना से ही कोई अवतार उत्पन्न कर लेते हैं। भगवान् का अवतार कुछ असाधारण परिस्थितियों में होता है, जैसे ऊपर उल्लेख हुआ है और अवतार ऐसे-ऐसे कार्य सम्पन्न करता है, जिसकी कल्पना कर पाना लघु मानव मस्तिष्क के लिए सम्भव नहीं है। आजकल के सस्ते अवतार स्रष्टाओं को भगवान् के वास्तविक विराट शूकर अवतार से, जिसमें पृथ्वी लोक को उठाने के लिए उपयुक्त थूथन थी, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

जब भगवान् पृथ्वी उठाने के लिए प्रकट हुए तो हिरण्याक्ष ने उनके इस योजनाबद्ध कार्य में बाधा डालनी चाही, फलतः भगवान् ने उसे अपने लम्बे दाढ़ से बेध कर मार डाला। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार हिरण्याक्ष का वध भगवान् के हाथों से हुआ। उनका कथन है कि पहले हाथों से मारने के बाद भगवान् ने उसे अपने लम्बे दाढ़ से बेध डाला। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस कथन की पुष्टि की है।

जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ
 आकूति-सूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
 लोक-त्रयस्य महतीमहरद् यदार्ति
 स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

जातः—उत्पन्न हुआ; रुचेः—प्रजापति की पत्नी के; अजनयत्—जन्म हुआ; सुयमान्—सुयम इत्यादि; सुयज्ञः—सुयज्ञ;
 आकूति-सूनुः—आकूति का पुत्र; अमरान्—देवता; अथ—इस प्रकार; दक्षिणायाम्—दक्षिणा नामक पत्नी से; लोक—लोक;
 त्रयस्य—तीनों का; महतीम्—अति विशाल; अहरत्—कम किया; यत्—वे सब; आर्तिम्—क्लेश; स्वायम्भुवेन—स्वायंभुव
 मनु द्वारा; मनुना—मनुष्यों के पिता द्वारा; हरिः—हरि; इति—इस प्रकार; अनूक्तः—नाम रखा ।

सर्वप्रथम प्रजापति की पत्नी आकूति के गर्भ से सुयज्ञ उत्पन्न हुआ; फिर सुयज्ञ ने अपनी पत्नी दक्षिणा से सुयम इत्यादि देवताओं को उत्पन्न किया। सुयज्ञ ने इन्द्रदेव के रूप में तीनों लोकों के महान् क्लेश कम कर दिए थे, फलतः मानवमात्र के परम पिता स्वायंभुव मनु ने उसे हरि नाम से पुकारा।

तात्पर्य : मनमौजी अल्पज्ञ पुरुष नये-नये अवैधानिक अवतारों की खोज करते रहते हैं। इनसे बचने के लिए धर्मग्रन्थों में प्रामाणिक अवतार के पिता का नाम भी दिया रहता है। फलतः यदि शास्त्रों में किसी अवतार के पिता का तथा प्रकट होने वाले ग्राम या स्थान का उल्लेख नहीं है, तो उसे भगवान् का अवतार नहीं माना जा सकता। भागवत-पुराण में कल्कि अवतार के पिता तथा जहाँ अवतार होगा उस ग्राम का नाम निर्देशित है। फलतः कोई भी बुद्धिमान पुरुष किसी सस्ते अवतार को शास्त्रों को देखे बिना स्वीकार नहीं करेगा।

जज्ञे च कर्दम-गृहे द्विज देवहृत्यां
 स्त्रीभिः समं नवभिरात्म-गतिं स्व-मात्रे ।
 ऊचे ययात्म-शमलं गुण-सङ्ग-पङ्क-
 मस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

जज्ञे—जन्म लिया; च—भी; कर्दम—कर्दम नामक प्रजापति के; गृहे—घर में; द्विज—हे ब्राह्मण; देवहृत्याम्—देवहृति के गर्भ में; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; समम्—के साथ में; नवभिः—नौ; आत्म-गतिम्—आत्मबोध; स्व-मात्रे—अपनी माता से; ऊचे—कहा; यया—जिससे; आत्म-शमलम्—आत्मा का आवरण; गुण-सङ्ग—गुणों के साथ; पङ्कम्—कीचड़; अस्मिन्—इस जीवन में; विधूय—धुल कर; कपिलस्य—भगवान् कपिल की; गतिम्—मुक्ति; प्रपेदे—प्राप्त किया।

इसके पश्चात् भगवान् कपिल रूप में अवतरित हुए और प्रजापति ब्राह्मण कर्दम तथा उनकी पत्नी देवहृति के पुत्र रूप में अन्य नौ स्त्रियों (बहनों) के साथ जन्म लिया। उन्होंने अपनी माता

को आत्म-साक्षात्कार के विषय में शिक्षा दी, जिससे वे उसी जीवन काल में सांसारिक गुण रूपी कीचड़ से विमल हो गईं और उन्होंने मुक्ति प्राप्त की जो कपिल का मार्ग है।

तात्पर्य : भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को जो उपदेश दिये, वे *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध (अध्याय २५-३२) में दिये गये हैं और जो भी उनका पालन करता है उसे देवहूति के समान मुक्ति प्राप्त हो सकती है। भगवान् ने अर्जुन को *भगवद्गीता* सुनाई जिससे उसे आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हुआ। आज भी जो कोई अर्जुन के पथ का अनुसरण करता है, वह अर्जुन के ही समान लाभ प्राप्त कर सकता है। शास्त्र इसीलिए हैं। मूर्ख तथा अल्पज्ञानी मनुष्य अपनी कल्पना से उनकी विवेचना करके अपने अनुयायियों को गुमराह करते हैं और उन्हें संसार के गर्त में पड़े रहने देते हैं। किन्तु आज भी यदि कोई भगवान् श्रीकृष्ण या कपिल के उपदेशों का पालन करे, तो उसे परम लाभ हो सकता है।

आत्म-गतिम् शब्द परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य को भगवान् तथा जीव के केवल गुणों की समता को जान लेने भर से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि अपने सीमित ज्ञान से जितना तक सम्भव हो भगवान् के विषय में जानने का प्रयास करे। भगवान् को पूरी तरह जान पाना शिव या ब्रह्मा जैसे मुक्त पुरुषों के लिए भी कठिन है, तो भला उन्हें अन्य देवता या संसारी पुरुष कैसे जान सकते हैं? तो भी महान् भक्तों तथा शास्त्रों में उपलब्ध आदेशों का पालन करते हुए भगवान् के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है। भगवान् के अवतार, महामुनि कपिल, ने अपनी माता को भगवान् के स्वरूप के विषय में पूरी तरह उपदेश दिया जिससे उन्हें भगवान् का साक्षात्कार हो सका और वे वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त कर सकीं जहाँ पर कपिल का आधिपत्य है। भगवान् के प्रत्येक अवतार का परव्योम में अपना-अपना धाम होता है, अतः श्रीकपिल का भी अपना पृथक् वैकुण्ठ लोक है। परव्योम शून्य नहीं है। इसमें अनेक वैकुण्ठ लोक हैं और प्रत्येक में भगवान् अपने असंख्य विस्तारों के द्वारा शासन करते हैं और वहाँ पर रहने वाले शुद्ध भक्त भी भगवान् तथा उनके पार्षदों के समान जीवन-यापन करते हैं।

जब भगवान् स्वयं या अपने अंश रूप में अवतरित होते हैं, तो इन अवतारों को *अंश, कला, गुण, युग* तथा *मन्वन्तर* अवतार कहा जाता है और जब भगवान् के आदेश से उनका कोई पार्षद अवतार

लेता है, तो ऐसे अवतार को *शक्त्यावेश* अवतार कहा जाता है। किन्तु प्रत्येक दशा में इन सभी अवतारों की पुष्टि प्रामाणिक शास्त्रों के निर्विवाद कथनों द्वारा की जाती है, न कि अपना विज्ञापन करने वाले की किसी कल्पना से। उपर्युक्त दोनों प्रकार के सभी अवतार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को ही परम सत्य घोषित करते हैं। परम सत्य की निर्विशेष अवधारणा भगवान् के उस स्वरूप का निषेध मात्र ही है, जो परम सत्य की सांसारिक धारणा से उत्पन्न है।

जीवात्माएँ आध्यात्मिकता में स्वभाविक रूप से भगवान् के समान ही उत्तम हैं—दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि भगवान् सदा परम तथा शुद्ध हैं और प्रकृति के गुणों से दूषित नहीं होते, जबकि जीवात्माएँ सत्त्व, रज तथा तम के भौतिक गुणों की संगति से दूषित होती रहती हैं। तीनों गुणों से उत्पन्न यह दूषण ज्ञान, त्याग तथा भक्ति के द्वारा पूर्ण रूप से धोया जा सकता है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो भगवद्भक्ति है, अतः जो सीधे ही भगवान् की भक्ति में लगे हैं, वे आत्मज्ञान तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही सांसारिकता से विरक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं और इस तरह परम मुक्त होकर भगवान् के धाम जाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

जीवात्मा अ-मुक्त अवस्था में भी, भगवान् श्रीकृष्ण या उनके अंशरूप राम तथा नृसिंह की दिव्य प्रेमाभक्ति कर सकता है। इस प्रकार दिव्य भक्ति-मय सेवा द्वारा भक्त क्रमशः *ब्रह्मगतिम्* या *आत्मगतिम्* की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में बिना किसी कठिनाई के *कपिलस्य गतिम्* अर्थात् भगवान् के धाम को प्राप्त करता है। भगवद्भक्ति की निर्विश-शक्ति इतनी अधिक है कि वह भक्त के वर्तमान जीवन के भौतिक संदूषण को भी निष्प्रभावित कर सकती है। पूर्णमुक्ति के लिए भक्त को अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं करनी होती।

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो

दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः ।

यत्पाद-पङ्कज-पराग-पवित्र-देहा

योगर्द्धिमापुरुभयीं यदु-हैहयाद्याः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अत्रेः—अत्रि मुनि की; अपत्यम्—सन्तान; अभिकाङ्क्षतः—आकांक्षा करते हुए; आह—यह कहा; तुष्टः—प्रसन्न; दत्तः—दिया गया; मया—मेरे द्वारा; अहम्—अपने आपको; इति—इस प्रकार; यत्—क्योंकि; भगवान्—श्रीभगवान्; सः—वह; दत्तः—दत्तात्रेय; यत्-पाद—जिसके पाँव; पङ्कज—कमल; पराग—धूलि; पवित्र—पवित्र; देहाः—शरीर; योग—योग की; ऋद्धिम्—ऐश्वर्य; आपुः—प्राप्त किया; उभयीम्—दोनों लोकों के लिए; यदु—यदुवंश के पिता; हैहय-आद्याः—राजा हैहय इत्यादि।

अत्रि मुनि ने भगवान् से सन्तान के लिए प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर स्वयं ही अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय (दत्त, अत्रि का पुत्र) के रूप में अवतार ग्रहण करने का वचन दिया। और भगवान् के चरणकमलों की कृपा से अनेक यदु, हैहय इत्यादि पवित्र हुए और उन्होंने भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही वर प्राप्त किये।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीवात्माओं के मध्य पाँच प्रकार से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। अत्रि मुनि भगवान् से वात्सल्य भाव से जुड़े थे, अतः वे अपनी भक्ति की सिद्धि में भगवान् को पुत्र रूप में चाह रहे थे। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनके पुत्र रूप में स्वयं जन्म लिया। भगवान् तथा शुद्ध भक्त के बीच इस प्रकार के पुत्रत्व (वात्सल्य भाव) के सम्बन्ध के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। चूँकि भगवान् असीम हैं अतः उनके पिता-भक्तों की संख्या अनन्त है। वास्तव में भगवान् समस्त जीवात्माओं के पिता हैं, किन्तु भक्तों के आध्यात्मिक प्रेमवश वे पिता बनने की अपेक्षा किसी भक्त का पुत्र बनना अधिक पसन्द करते हैं। वस्तुतः पिता पुत्र की सेवा करता है, जबकि पुत्र पिता से सभी प्रकार की सेवाओं की माँग करता रहता है, अतः जो शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा करना चाहता है, वह उन्हें पुत्र रूप में चाहता है, पिता रूप में नहीं। भगवान् भी भक्त की ऐसी सेवा स्वीकार करते हैं और इस प्रकार भक्त भगवान् से बढ़कर हो जाता है। निर्विशेषवादी भगवान् से एकाकार होना चाहता है, किन्तु भक्त तो भगवान् से बढ़कर होता है और बड़े से बड़े एकेश्वरवादी से आगे होता है। इस गूढ़ सम्बन्ध के कारण भगवान् के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी योग की सभी ऋद्धियों को स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी ऋद्धियों में सभी प्रकार का भौतिक सुख, मुक्ति तथा सिद्धियाँ सम्मिलित रहती हैं। अतः भगवद्भक्त अलग से इनकी खोज करने में

वृथा अपना समय नहीं गँवाता। मनुष्य को चाहिए कि जीवन के बहुमूल्य समय को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लगाए। तब अन्य वांछित वस्तुएँ स्वतः प्राप्त हो जायेंगी। किन्तु इन सब उपलब्धियों के होते हुए भी मनुष्य को चाहिए कि भक्तों के चरणों पर अपराध करके गड्डे में गिरने से अपनी सुरक्षा करे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैहय है, जिसने भक्ति के द्वारा सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं, किन्तु भक्त के चरणों पर अपराध करने के कारण परशुराम ने उसका वध कर दिया। भगवान् अत्रि मुनि के पुत्र बने और दत्तात्रेय कहलाये।

तप्तं तपो विविध-लोक-सिसृक्षया मे

आदौ सनात् स्व-तपसः स चतुः-सोऽभूत् ।

प्राक्कल्प-सम्प्लव-विनष्टमिहात्म-तत्त्वं

सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तप्तम्—तपस्या करके; तपः—तपस्या; विविध-लोक—विभिन्न लोक; सिसृक्षया—सृष्टि करने की इच्छा से; मे—मेरा; आदौ—सर्वप्रथम; सनात्—श्रीभगवान् से; स्व-तपसः—अपनी तपस्या के बल से; सः—वह (भगवान्); चतुः-सनः—चारों कुमार जिनके नाम हैं, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन तथा सनातन; अभूत्—प्रकट हुए; प्राक्—पूर्व; कल्प—सृष्टि; सम्प्लव—बाढ़ में; विनष्टम्—नष्ट; इह—इस संसार में; आत्म—आत्मा; तत्त्वम्—सत्य; सम्यक्—पूर्णतः; जगाद—प्रकट हुआ; मुनयः—मुनिगण; यत्—जिन्होंने; अचक्षत—स्पष्ट देखा; आत्मन्—आत्मा।

विभिन्न लोकों की उत्पत्ति करने के लिए मुझे तपस्या करनी पड़ी और तब भगवान् ने मुझसे प्रसन्न होकर चारों कुमारों (सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा सनातन) के रूप में अवतार लिया। पिछली सृष्टि में आध्यात्मिक सत्य (आत्मज्ञान) का विनाश हो चुका था, किन्तु इन चारों कुमारों ने इतने स्पष्ट ढंग से उसकी व्याख्या की कि मुनियों को तुरन्त सत्य का साक्षात्कार हो गया।

तात्पर्य : विष्णुसहस्रनाम स्तोत्रों में भगवान् का नाम सनात तथा सनातनतम है। यद्यपि भगवान् तथा जीवात्मा गुणात्मक दृष्टि से सनातन अर्थात् शाश्वत हैं, किन्तु भगवान् सनातनतम अर्थात् सनातनों में सर्वश्रेष्ठ हैं। जीवात्माएँ निस्सन्देह सनातन हैं किन्तु सनातनतम नहीं, क्योंकि ये अ-शाश्वत जगत में पतित हो सकती हैं। अतः जीवात्माएँ सनातनतम भगवान् से मात्रा की दृष्टि से भिन्न हैं।

सन् शब्द दान के अर्थ में भी आया है, अतः जब भक्त भगवान् को अपना सर्वस्व दान-रूप में सौंप देता है, तो बदले में भगवान् अपने आपको भक्त को सौंप देते हैं। भगवद्गीता (४.११) में भी इसकी पुष्टि हुई है—ये यथा मां प्रपद्यन्ते। ब्रह्माजी ने पूर्व कल्प की भाँति फिर से सृष्टि की उत्पत्ति

करनी चाही और चूँकि पिछले प्रलय में, ब्रह्माण्ड से ब्रह्म-ज्ञान विलुप्त हो चुका था, इसीलिए वे उसे पुनः जीवित करना चाह रहे थे। चूँकि दिव्य ज्ञान मूलभूत आवश्यकता है, अतः सृष्टि के प्रत्येक कल्प में नित्य बद्धजीवों को मुक्ति का अवसर प्रदान किया जाता है। ब्रह्माजी की इस इच्छा की पूर्ति भगवान् ने चारों कुमारों अर्थात् सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा *सनातन* को उनके पुत्र रूप में उत्पन्न करके की। ये चारों कुमार परमेश्वर के ज्ञानावतार थे, अतः उन्होंने दिव्य ज्ञान की ऐसी स्पष्ट व्याख्या की कि सभी मुनि बिना किसी कठिनाई के उस ज्ञान को प्राप्त कर सके। इन चारों कुमारों के पदचिह्नों पर चल कर कोई भी अपने अंतःकरण में भगवान् का दर्शन कर सकता है।

धर्मस्य दक्ष-दुहितर्यजनिष्ठ मूर्त्या

नारायणो नर इति स्व-तपः-प्रभावः ।

दृष्ट्वात्मनो भगवतो नियमावलोपं

देव्यस्त्वनङ्ग-पृतना घटितुं न शेकुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्म की; दक्ष—दक्ष प्रजापति; दुहितरि—पुत्री से; अजनिष्ठ—जन्म लिया; मूर्त्याम्—मूर्ति नाम की; नारायणः—नारायण; नरः—नर; इति—इस प्रकार; स्व-तपः—अपनी तपस्या की; प्रभावः—शक्ति; दृष्ट्वा—देखकर; आत्मनः—अपना; भगवतः—श्रीभगवान् का; नियम-अवलोपम्—व्रत को भंग करके; देव्यः—नैसर्गिक सुन्दरियाँ; तु—लेकिन; अनङ्ग-पृतनाः—कामदेव के सखा; घटितुम्—होने के लिए; न—कभी नहीं; शेकुः—सम्भव हो सका।

उन्होंने अपनी तपस्या की विधि प्रदर्शित करने के लिए धर्म की पत्नी तथा दक्ष की पुत्री मूर्ति के गर्भ से नर तथा नारायण युगल-रूपों में जन्म लिया। कामदेव की सखियाँ, स्वर्ग की सुन्दरियाँ, उनका व्रत भंग करने आईं, किन्तु वे असफल रहीं, क्योंकि उन्हें भगवान् के शरीर से अपने समान अनेक सुन्दरियाँ उत्पन्न होती दिखाई पड़ीं।

तात्पर्य : भगवान् सभी वस्तुओं के स्रोत तो हैं ही, वे समस्त प्रकार की तपस्याओं के भी उद्गम हैं।

आत्म-साक्षात्कार में सफलता प्राप्त करने के लिए मुनि तपस्या का महान् व्रत लेते हैं। मानव जीवन ब्रह्मचर्य के व्रत के साथ-साथ ऐसी तपस्या के लिए ही मिला है। तपस्या में स्त्रियों की संगति के लिए कोई स्थान नहीं है। और चूँकि मनुष्य जीवन तपस्या के निमित्त है, इसीलिए *सनातन धर्म* अथवा वर्णाश्रम धर्म पद्धति में जीवन के तीनों स्तरों पर स्त्री से दूर रहने की कठोर सलाह दी गई है।

सांस्कृतिक विकास क्रम के अनुसार, जीवन के चार विभाग किये जा सकते हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

वानप्रस्थ तथा संन्यास। जीवन की प्रथम अवस्था में, जो प्रथम पच्चीस वर्षों तक रहती है, मनुष्य को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह यह समझ सके कि स्त्री ही इस संसार की वास्तविक बन्धक शक्ति है। यदि कोई बद्ध जीवन के बन्धन से मुक्ति चाहता है, तो उसे स्त्री के आकर्षण से मुक्त होना चाहिए। जीवात्माओं के लिए स्त्री ही सम्मोहक तत्त्व है, किन्तु नर-रूप विशेष रूप से मनुष्य जीवन में तो आत्म-साक्षात्कार के लिए है। सारा संसार स्त्री-आकर्षण के जादू से गतिशील है और मनुष्य स्त्री से जुड़ा नहीं कि वह भव-बन्धन की कठोर ग्रन्थि से जकड़ जाता है। स्त्री के साथ जुड़ाव हो जाने पर स्वामित्व की झूठी प्रतिष्ठा के नशे के अन्तर्गत भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व जताने की लालसा उत्पन्न होती है। घर, भूमि तथा सन्तान प्राप्त करने, समाज में महत्त्वपूर्ण बनने, जाति तथा जन्मभूमि के लिए प्रेम, धन के लिए लोलुपता ये सब जो मायाजाल अथवा स्वप्न के तुल्य हैं, मनुष्य को घेर लेते हैं और मनुष्य अपने जीवन के असली उद्देश्य को भूल जाता है और आत्म-साक्षात्कार की दिशा में उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ब्रह्मचारी जो प्रायः उच्चजाति का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जाति का बालक होता है, प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में पाँच वर्ष की अवस्था से पच्चीस वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करता है और जीवन के मूल्यों तथा जीविका के लिए विशिष्ट शिक्षण प्राप्त करने का अनुभव प्राप्त करता है। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को घर जाने दिया जाता है, जहाँ वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए किसी अनुकूल स्त्री के साथ विवाह करता है। किन्तु ऐसे अनेक ब्रह्मचारी हैं, जो गृहस्थ बनने के लिए घर नहीं जाते किन्तु वे स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन बिताते हैं। वे संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। वे यह भलीभाँति जानते हैं कि स्त्री की संगति एक झंझट है, जिससे आत्म-साक्षात्कार में बाधा पड़ती है। चूँकि आयु विशेष में कामेच्छा अत्यन्त प्रबल हो उठती है इसलिए गुरु ब्रह्मचारी को विवाह करने की अनुमति दे सकता है; यह छूट केवल उन्हें दी जाती है, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं रह सकते। और ऐसा भेद करपाना प्रामाणिक गुरु के लिए ही सम्भव है, इस प्रकार तथाकथित परिवार-नियोजन का कार्यक्रम आवश्यक है। जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य की सम्यक शिक्षा के बाद शास्त्रानुमोदित रीति से स्त्री की संगति करता है, वह गृहस्थ कुत्ते-बिल्लियों की तरह का नहीं होता। ऐसा गृहस्थ पचास

वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्री की संगति त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके स्त्री के बिना रहने का अभ्यास करता है। जब अभ्यास पूरा हो जाता है, तो वानप्रस्थी संन्यास ग्रहण करता है तथा स्त्री से, यहाँ तक कि अपनी विवाहिता पत्नी से भी, अपने को अलग कर लेता है। स्त्री से वियुक्त होने की पूरी योजना के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में स्त्री बाधक है और भगवान् नारायण रूप में स्त्री से वियुक्त होने की शिक्षा देने के लिए ही प्रकट हुए। दृढ़ ब्रह्मचारी के तपस्वी जीवन से ईर्ष्यालु होकर उसका व्रत भंग करने के उद्देश्य से देवता काम देव के सैनिकों को भेजते हैं। किन्तु भगवान् के समक्ष उनकी एक भी नहीं चली, क्योंकि जब दैवी सुन्दरियों ने देखा कि उनकी योगमाया से असंख्य सुन्दरियाँ प्रकट हो सकती हैं और उन्हें बाह्य रूप से आकृष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। आम कहावत है कि हलवाई कभी मिठाइयों से ललचाता नहीं। हलवाई जो सदा ही मिठाइयाँ बनाता है, उन्हें खाने की कोई इच्छा नहीं रखता; इसी प्रकार भगवान् अपनी ह्लादिनी शक्ति से असंख्य दैवी सुन्दरियाँ उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वे भौतिक संसार की छद्म सुन्दरियों से लेशमात्र भी आकृष्ट नहीं होते। जो यह नहीं जानता, वह मूर्खतावश दोष देता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन की रास लीला में स्त्रियों के साथ या कि द्वारका में अपनी सोलह हजार पत्नियों के साथ रमण किया।

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोष-दृष्ट्या

रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।

सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति

कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कामम्—वासना; दहन्ति—दण्ड देते हैं; कृतिनः—बड़े-बड़े अग्रणी; ननु—लेकिन; रोष-दृष्ट्या—क्रोधपूर्ण चितवन से; रोषम्—क्रोध; दहन्तम्—अभिभूत; उत—यद्यपि; ते—वे; न—नहीं; दहन्ति—वश में करते हैं; असह्यम्—दुःसह; सः—वह; अयम्—उसको; यत्—क्योंकि; अन्तरम्—भीतर; अलम्—फिर भी; प्रविशन्—भीतर जाकर; बिभेति—भयभीत होता है; कामः—वासना से; कथम्—कैसे; नु—वस्तुतः; पुनः—फिर; अस्य—उसका; मनः—मन; श्रयेत—शरण ग्रहण करता है।

शिव जैसे महापुरुष अपनी रोषपूर्ण चितवन से वासना (काम) को जीतकर उसे दण्डित तो कर सकते हैं, किन्तु वे स्वयं अपने क्रोध के अत्यधिक प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। ऐसा क्रोध कभी भी उनके (भगवान् के) हृदय में प्रवेश नहीं पाता, क्योंकि वे इससे ऊपर हैं। तो फिर भला उनके मन में वासना को आश्रय कैसे प्राप्त हो सकता है ?

तात्पर्य : जब शिवजी कठिन तपस्या में तल्लीन थे तो कामदेव ने अपना काम-बाण उन पर छोड़ा। शिव ने घोर कुपित दृष्टि से कामदेव की ओर देखा तो उसका शरीर तुरन्त भस्म हो गया। शिव इतने शक्तिशाली होते हुए भी क्रोध के प्रभाव से मुक्त न थे। किन्तु भगवान् विष्णु के आचरण में कभी भी क्रोध करने की कोई घटना नहीं पाई जाती। इसके विपरीत, जब भृगु मुनि ने जान बूझकर उनके वक्षस्थल पर चरण-प्रहार किया, तो मुनि पर क्रुद्ध होने के बजाय भगवान् ने यह कहकर क्षमा माँगी कि उनका वक्षस्थल अत्यधिक कठोर है, कहीं मुनि के पाँव में ज्यादा चोट तो नहीं लगी। भगवान् के वक्षस्थल पर अंकित भृगुपाद चिह्न उनकी सहिष्णुता का प्रतीक है। अतः जब भगवान् क्रोध से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होते, तो फिर क्रोध से कम शक्तिशाली कामेच्छा के लिए वहाँ किस तरह कोई स्थान हो सकता है? जब काम या इच्छा की पूर्ति नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है; अतः जब क्रोध अनुपस्थित हो तो फिर काम कैसे उत्पन्न हो सकता है? भगवान् को आप्तकाम कहा जाता है, क्योंकि वे अपनी इच्छाओं की तुष्टि स्वयं करते हैं। उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए किसी की सहायता नहीं चाहिए। भगवान् असीम हैं अतः उनकी इच्छाएँ भी असीम हैं। भगवान् के अतिरिक्त समस्त जीवात्माएँ हर तरह से ससीम हैं, अतः जो ससीम हैं, वे असीम की इच्छाओं की तुष्टि कैसे कर सकते हैं? निष्कर्ष यह निकला कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में न तो काम है, न क्रोध और यदि कभी उनमें इनका दर्शन हो भी तो इसे परम आशीर्वाद (वरदान) समझना चाहिए।

विद्धः सपत्न्युदित-पत्रिभिरन्ति राज्ञो

बालोऽपि सन्नूपगतस्तपसे वनानि ।

तस्मा अदाद् ध्रुव-गतिं गृणते प्रसन्नो

दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विद्धः—बिंध कर; **सपत्नि**—सौतेली माता; **उदित**—कहे गये; **पत्रिभिः**—तीखे वचनों से; **अन्ति**—समक्ष; **राज्ञः**—राजा के; **बालः**—बालक; **अपि**—यद्यपि; **सन्**—ऐसा होते हुए; **उपगतः**—ग्रहण कर लिया; **तपसे**—कठोर तपस्या; **वनानि**—वन में; **तस्मै**—अतः; **अदात्**—पुरस्कार रूप में दिया; **ध्रुव-गतिम्**—ध्रुवलोक का मार्ग; **गृणते**—प्रार्थना किये जाने पर; **प्रसन्नः**—प्रसन्न होकर; **दिव्याः**—उच्चलोक के वासी; **स्तुवन्ति**—प्रार्थना करते हैं; **मुनयः**—बड़े-बड़े साधु; **यत्**—जिससे; **उपरि**—ऊपर; **अधस्तात्**—नीचे।

राजा की उपस्थिति में सौतेली माता के कटु वचनों से अपमानित होकर राजकुमार ध्रुव, बालक होते हुए भी, वन में कठिन तपस्या करने लगे और भगवान् ने उनकी प्रार्थना से प्रसन्न

होकर उन्हें ध्रुवलोक प्रदान किया जिसकी पूजा ऊपर तथा नीचे के लोकों के सभी मुनि करते हैं।

तात्पर्य : महाराज उत्तानपाद के पुत्र तथा परम भक्त राजकुमार ध्रुव, जब पाँच वर्ष के थे तो वे अपने पिता की गोद में बैठे थे, किन्तु उनकी सौतेली माँ को राजा द्वारा अपने सौतेले पुत्र को इस प्रकार प्यार किया जाना अच्छा नहीं लगा। उसने उन्हें यह कहते हुए खींचकर उतार दिया कि चूँकि वह उसकी कोख से उत्पन्न नहीं है, अतः राजा की गोद में बैठने का अधिकार नहीं है। वह नन्हा बालक अपनी सौतेली माँ के इस व्यवहार से अत्यन्त अपमानित हुआ। उसके पिता ने कोई भी प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि वह अपनी इस दूसरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त था। इस घटना के बाद राजकुमार ध्रुव अपनी माँ के पास गये और शिकायत की। उनकी सगी माँ भी इस अपमानजनक आचरण के प्रति कोई कदम नहीं उठा सकती थीं, इसीलिए वह रोने लगीं। बालक ने माँ से पूछा कि वह किस प्रकार अपने पिता के सिंहासन पर बैठ सकता है। बेचारी माँ ने कहा कि भगवान् ही एकमात्र उसके सहायक हो सकते हैं। बालक ने पूछा कि भगवान् कहाँ मिलेंगे, तो माँ ने कहा कि लोग कहते हैं कि भगवान् मुनियों को कभी-कभी घने वन में दिखते हैं। बालक राजकुमार ने निश्चय किया कि वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जंगल जाकर कठोर तपस्या करेगा।

राजकुमार ध्रुव ने अपने गुरु नारद के आदेशानुसार, जिन्हें भगवान् ने इस कार्य के लिए विशेष तौर पर नियुक्त किया था, कठिन तपस्या की। नारद ने उन्हें अठारह अक्षरों वाले मंत्र के जपने की दीक्षा दी। यह मंत्र है— *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।* भगवान् वासुदेव ने स्वयं पृश्निगर्भ नामक चतुर्भुज भगवान् के रूप में अवतरित होकर, राजकुमार को सप्त नक्षत्रों से ऊपर विशिष्ट लोक प्रदान किया। अपनी तपस्या में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद राजकुमार ध्रुव को भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए। इस प्रकार उनकी सारी कामनाएँ पूरी हो गईं और वे संतुष्ट हो गए।

राजकुमार ध्रुव महाराज को जो लोक मिला वह भगवान् वासुदेव की इच्छा से भौतिक आकाश में स्थित अचल वैकुण्ठ लोक है। इस लोक का, भौतिक संसार में होने के बावजूद भी, प्रलय के समय विनाश नहीं होगा प्रत्युत वह अपने स्थान पर अचल रहेगा। क्योंकि यह कभी न नष्ट होने वाला वैकुण्ठ

लोक है, इसलिए न केवल उसके नीचे स्थित सप्त नक्षत्रों के वासी उसकी पूजा करते हैं वरन् जो लोक उससे ऊपर हैं उनके वासी भी वैसा ही करते हैं। महर्षि भृगु का लोक ध्रुव लोक से ऊपर स्थित है।

अतः भगवान् ने अपने भक्त की इच्छापूर्ति के लिए पृश्निगर्भ के रूप में अवतार लिया और राजकुमार ध्रुव ने भगवान् के अन्य शुद्ध भक्त नारद से दीक्षा लेकर केवल मंत्र के जप से सिद्धि प्राप्त की। अतः एक शुद्ध भक्त से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करके गम्भीर महापुरुष अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। ऐसा पथ-प्रदर्शक हर सम्भव प्रकार से भगवान् से मिलने की दृढ़ इच्छा होने पर स्वतः मिल जाता है।

राजकुमार ध्रुव के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के चतुर्थ स्कंध में पढ़ने को मिलेगा।

यद्वेनमुत्पथ-गतं द्विज-वाक्य-वज्र--

निष्प्लुष्ट-पौरुष-भगं निरये पतन्तम् ।

त्रात्वार्थितो जगति पुत्र-पदं च लेभे

दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जब; वेनम्—राजा वेन को; उत्पथ-गतम्—पथभ्रष्ट; द्विज—ब्राह्मणों के; वाक्य—शाप के वचन; वज्र—वज्र; निष्प्लुष्ट—भस्म किया जाकर; पौरुष—महान् कार्य; भगम्—ऐश्वर्य; निरये—नरक में; पतन्तम्—गिरते हुए; त्रात्वा—उद्धार करके; अर्थितः—प्रार्थित; जगति—संसार में; पुत्र-पदम्—पुत्र का स्थान; च—भी; लेभे—प्राप्त किया; दुग्धा—दोहन किया; वसूनि—उपज; वसुधा—पृथ्वी; सकलानि—सभी प्रकार की; येन—जिसके द्वारा।

महाराज वेन कुमार्गगामी हो गया, अतः ब्राह्मणों ने वज्रशाप से उसे दण्डित किया। इस प्रकार राजा वेन अपने सत्कर्मों तथा ऐश्वर्य के सहित भस्म हो गया और नरक के पथ पर जाने लगा। किन्तु भगवान् ने, अपनी अहैतुकी कृपा से, उसके पुत्र पृथु के रूप में जन्म लेकर शापित राजा वेन को नरक से उबारा और पृथ्वी का दोहन करके उससे सभी प्रकार की उपजें प्राप्त कीं।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म-पद्धति के अनुसार पवित्र तथा विद्वान ब्राह्मण समाज के स्वाभाविक संरक्षक होते थे। ब्राह्मणजन प्रशासकों-राजाओं को अपने विद्वत्तापूर्ण प्रेम से अनुदेश देते थे कि किस प्रकार पूर्ण सत्यनिष्ठा से देश का शासन सँभाला जाय। इस प्रकार पूर्ण कल्याणकारी राज्य के रूप में यह प्रक्रिया चलती थी। राजा अथवा क्षत्रिय प्रशासक सदैव विद्वान ब्राह्मणों की परिषद से सलाह लेते थे। वे कभी भी तानाशाह नहीं होते थे। प्रजा पर शासन करने के लिए *मनुसंहिता* तथा महान् मुनियों द्वारा

लिखित अन्य प्रामाणिक कृतियाँ निर्देशक नियम प्रदान करने वाली होती थीं। अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों को प्रजातन्त्र के नाम पर विधि संहिता बनाने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। जिस प्रकार शिशु को अपने भावी कल्याण का कोई ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार अल्पबुद्धि मनुष्यों को अपने ही कल्याण के विषय में बहुत कम ज्ञान होता है। जिस प्रकार अनुभवी पिता अबोध शिशु को उन्नति के पथ की ओर ले जाता है उसी प्रकार शिश-रूप जनता को भी वैसे ही पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। मनुसंहिता तथा अन्य वैदिक साहित्य में मानक कल्याण संहिता पहले से विद्यमान है। विद्वान ब्राह्मण राजा को ज्ञान के इन मानक ग्रन्थों के अनुसार तथा देश-काल की विशेष स्थिति के अनुसार सलाह देते रहते थे। ऐसे ब्राह्मण राजा के वेतनभोगी सेवक नहीं होते थे, फलतः वे धर्मग्रन्थों के नियमों के लिए राजा को आदेश देने का सामर्थ्य रखते थे। यह पद्धति महाराज चन्द्रगुप्त के काल तक भी चली और ब्राह्मण चाणक्य उसका अवैतनिक प्रधानमंत्री था।

महाराज वेन ने शासन के नियमों का पालन नहीं किया। उसने विद्वान ब्राह्मणों की अवज्ञा की। ये ब्राह्मण अत्यन्त विशाल-हृदय थे और अपने हित की परवाह न करके समस्त प्रजा के पूर्ण कल्याण को ही सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने राजा वेन को उसके दुराचरण के लिए दण्डित करना चाहा। अतः उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की और राजा को शाप भी दिया।

महापुरुष की अवज्ञा मात्र से दीर्घायु, आज्ञापालन, ख्याति, सत्यता, उच्चलोक जाने का अवसर तथा महापुरुषों के आशीष—ये सभी विनष्ट हो जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि महापुरुषों के पदचिह्नों पर दृढ़ता से चले। निस्सन्देह अपने पूर्व पुण्यों से महाराज वेन राजा बना था, किन्तु जान बूझकर महापुरुषों की अवज्ञा से उसे उपरोक्त सभी गुणों से वंचित होकर दण्डित होना पड़ा। *वामन पुराण* में महाराज वेन के इतिहास तथा उसके पतन का पूर्ण वर्णन मिलता है। जब महाराज पृथु को अपने पिता वेन की इस नारकीय दशा का पता चला कि वे एक म्लेच्छ परिवार में कुष्ठ रोगी के रूप में पीड़ित हैं, तो वे शुद्धि के लिए उन्हें तुरन्त कुरुक्षेत्र ले आये और उन्होंने उन्हें समस्त कष्टों से छुटकारा दिलाया।

महाराज पृथु भगवान् के अवतार थे, जो पृथ्वी की अव्यवस्था को दूर करने के लिए ब्राह्मणों की प्रार्थना से अवतरित हुए थे। उन्होंने सभी प्रकार की फसलें उत्पन्न कीं, किन्तु उसके साथ ही एक पुत्र

के धर्म का निर्वाह भी किया जो पिता को नारकीय स्थिति से उबारता है। पुत्र का अर्थ है पुत्र नामक नरक से उद्धार करने वाला। ऐसा ही पुत्र योग्य है।

नाभेरसावृषभ आस सुदेवि-सूनु-

र्यो वै चचार सम-दृग् जड-योग-चर्याम् ।

यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति

स्वस्थः प्रशान्त-करणः परिमुक्त-सङ्गः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नाभेः—महाराज नाभि के द्वारा; असौ—श्रीभगवान्; ऋषभः—ऋषभ; आस—हुआ; सुदेवि—सुदेवी का; सूनुः—पुत्र; यः—जिसने; वै—निश्चय ही; चचार—सम्पन्न किया; सम-दृक्—समदर्शी; जड—भौतिक; योग-चर्याम्—योग अभ्यास; यत्—जो; पारमहंस्यम्—सिद्धि की परम अवस्था; ऋषयः—ऋषिगण; पदम्—पद; आमनन्ति—स्वीकार करते हैं; स्वस्थः—अपने में स्थित; प्रशान्त—स्थिर; करणः—इन्द्रियाँ; परिमुक्त—पूर्णतया मुक्त; सङ्गः—भौतिक कल्मष।

राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के पुत्र के रूप में भगवान् प्रकट हुए और ऋषभ-देव कहलाये।

अपने मन को समदर्शी बनाने के लिए उन्होंने जड़-योग साधना की। इस अवस्था को मुक्ति का सर्वोच्च सिद्ध पद भी माना जाता है, जिसमें मनुष्य अपने में ही स्थित रहकर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रहता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए जितनी प्रकार की योग-साधनाएँ की जाती हैं उनमें जड़-योग को भी विशेषज्ञों द्वारा मान्यता प्राप्त है। इस जड़-योग में पत्थर के समान मूक बनकर किसी प्रकार के भौतिक फल से अप्रभावित रहने का प्रयास करना पड़ता है। जिस प्रकार पत्थर सभी प्रकार के बाह्य घात-प्रतिघात के प्रति उदासीन रहता है, उसी प्रकार जड़-योग की साधना करने वाला भौतिक देह को स्वेच्छा से पहुँचाये जाने वाले समस्त कष्टों को सहन करता है। ऐसे योगी बाल नहीं बनाते और अपने सिर के बालों को किसी मशीनी साधन की सहायता लिए बिना हाथ से उखाड़ कर अपने आपको पीड़ा पहुँचाते हैं, जो स्वेच्छा से अपने आप को कष्ट पहुँचाने की बहुत सी विधियों में से एक है। किन्तु ऐसे जड़-योग का असली उद्देश्य समस्त भौतिक मोह से छुटकारा पाना और पूर्ण रूप से अपने में स्थित होना है। अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में महाराज ऋषभदेव मूक, पागल पुरुष की भाँति विचरण करते रहे—उन पर किसी भी शारीरिक दुर्व्यवहार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उन्हें पागल की भाँति जटा बढ़ाये तथा नंगा घूमते देख कर, गली-कूचों के अल्पबुद्धि बालक तथा मनुष्य उन पर

थूकते और उन पर पेशाब करते थे। वे अपनी ही विष्टा पर लेटे रहते थे और हटते नहीं थे। किन्तु उनका मल सुगन्धित पुष्पों की भाँति दूर-दूर तक सुगन्धि फैलाता था और साधु पुरुष उन्हें परमहंस अर्थात् मानव सिद्धी की सर्वोच्च अवस्था में मानते थे। जो अपने मल को सुगन्धित न बना सके उसे सम्राट ऋषभदेव की नकल नहीं करनी चाहिए। जड़-योग का अभ्यास ऋषभदेव तथा उसी स्तर के सिद्ध लोगों के लिए सम्भव है, सामान्य लोगों के लिए यह असाधारण अभ्यास दुष्कर है।

जड़-योग का असली उद्देश्य प्रशान्त-करणः अर्थात् इन्द्रियों को वश में करना है, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। योग की समूची प्रक्रिया, चाहे इसे जो भी नाम दें, असंयमित इन्द्रियों को वश में करने तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए तैयारी करने के लिए होती है। इस युग में विशेषतः जड़-योग का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत भक्तियोग इस युग के लिए व्यावहारिक है, जो सर्वथा उपयुक्त है। उपयुक्त स्रोत से श्रवण करने की सहज विधि अर्थात् श्रीमद्भागवत को सुनकर योग की परम सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है। ऋषभदेव राजा नाभि के पुत्र तथा राजा आग्नीध्र के पौत्र थे। वे राजा भरत के पिता थे जिनके नाम से इस पृथ्वीलोक का नाम भारतवर्ष पड़ा। ऋषभदेव की माता का नाम मेरुदेवी भी था, जिसे यहाँ पर सुदेवी कहा गया है। कभी-कभी लोग सुझाव देते हैं कि सुदेवी राजा नाभि की दूसरी पत्नी थी, किन्तु क्योंकि अन्यत्र ऋषभदेव को मेरुदेवी का पुत्र कहा गया है, अतः यह स्पष्ट है कि मेरुदेवी तथा सुदेवी एक ही व्यक्ति (स्त्री) के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

सत्रे ममास भगवान् हय-शीरषाथो

साक्षात् स यज्ञ-पुरुषस्तपनीय-वर्णः ।

छन्दोमयो मखमयोऽखिल-देवतात्मा

वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सत्रे—यज्ञोत्सव में; मम—मेरे; आस—प्रकट हुए; भगवान्—श्रीभगवान्; हय-शीरषा—घोड़े का सिर धारण करके; अथ—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सः—वह; यज्ञ-पुरुषः—ऐसा पुरुष जो यज्ञ सम्पन्न करने से प्रसन्न होता है; तपनीय—सुनहले; वर्णः—रंग; छन्दः-मयः—साक्षात् वैदिक स्तोत्र; मख-मयः—साक्षात् यज्ञ; अखिल—जो कुछ सम्भव है, वह सब; देवता-आत्मा—देवताओं की आत्मा; वाचः—वाणी; बभूवुः—सुने जाते हैं; उशतीः—कानों को अत्यन्त मधुर लगने वाले; श्वसतः—साँस लेते हुए; अस्य—इसके; नस्तः—नशुनों से।

मेरे (ब्रह्मा) द्वारा सम्पन्न यज्ञ में भगवान् हयग्रीव अवतार के रूप में प्रकट हुए। वे साक्षात् यज्ञ हैं और उनके शरीर का रंग सुनहला है। वे साक्षात् वेद भी हैं और समस्त देवताओं के

परमात्मा हैं। जब उन्होंने श्वास ली, तो उनके नथुनों से समस्त मधुरवैदिक स्तोत्रों की ध्वनियाँ प्रकट हुईं।

तात्पर्य : वैदिक स्तोत्र प्रायः उन कर्मियों के लिए हैं, जो यज्ञ करते हैं और फल प्राप्ति की अभिलाषा से देवताओं को भी प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् साक्षात् यज्ञ तथा वैदिक स्तोत्र हैं। अतः जो भगवान् का प्रत्यक्ष भक्त होता है उससे यज्ञ सम्पन्न करने तथा देवताओं को प्रसन्न करने के कार्य स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं। भगवान् के भक्त भले ही कोई यज्ञ न करें या वैदिक आदेशों के अनुसार किसी देवता को प्रसन्न न करें, किन्तु फिर भी वे कर्मियों अथवा विभिन्न देवों के उपासकों से उच्चतर पद पर रहते हैं।

मत्स्यो युगान्त-समये मनुनोपलब्धः

क्षोणीमयो निखिल-जीव-निकाय-केतः ।

विस्त्रंसितानुरु-भये सलिले मुखान्मे

आदाय तत्र विजहार ह वेद-मार्गान् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मत्स्यः—मत्स्यावतार; युग-अन्त—कल्प के अन्त में; समये—का समय; मनुना—भावी वैवस्वत मनु द्वारा; उपलब्धः—दृश्य; क्षोणीमयः—पृथ्वी तक; निखिल—समस्त; जीव—जीवात्माएँ; निकाय-केतः—आश्रय; विस्त्रंसितानु—से उद्भूत; उरु—महान्; भये—भय से; सलिले—जल में; मुखात्—मुख से; मे—मेरा; आदाय—लाकर; तत्र—वहाँ; विजहार—उपभोग किया; ह—निश्चय ही; वेद-मार्गान्—समस्त वेदों का।

कल्प के अन्त में भावी वैवस्वत मनु, सत्यव्रत, देखेंगे कि मत्स्य अवतार के रूप में श्रीभगवान् पृथ्वी पर्यन्त सभी प्रकार की जीवात्माओं के आश्रय हैं। तब कल्प के अन्त में, जल में मेरे भय से, सभी वेद मेरे (ब्रह्मा) मुँह से निकलते हैं तथा भगवान् उस प्रवाह जल का राशि आनन्द उठाते हुए वेदों की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा का एक दिन चौदह मनुओं के तुल्य है और प्रत्येक मनु के अन्त में पृथ्वी-पर्यन्त सब कुछ नष्ट हो जाता है और तब ब्रह्मा को भी वह जल भयानक लगता है। अतः भावी वैवस्वत मनु के आरम्भ में वह ऐसे संहार को देखेगा। ऐसी अन्य अनेक घटनाएँ होंगी—यथा प्रसिद्ध शंखासुर का वध। ऐसी भविष्यवाणी ब्रह्मा के गत अनुभव पर आधारित है, क्योंकि उन्हें पता था कि उस प्रलयकारी दृश्य में उनके मुख से वेद प्रकट होंगे, किन्तु मत्स्यावतार रूप में श्रीभगवान् न केवल समस्त

जीवात्माओं—यथा देवताओं, पशुओं, मनुष्यों तथा मुनियों—की रक्षा करेंगे वरन् वेदों को भी बचाएँगे।

क्षीरोदधावमर-दानव-यूथपाना-

मुन्मथताममृत-लब्धय आदि-देवः ।

पृष्ठेन कच्छप-वपुर्विदधार गोत्रं

निद्राक्षणोऽद्रि-परिवर्त-कषाण-कण्डूः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

क्षीर—दूध; उदधौ—समुद्र में; अमर—देवता; दानव—असुर; यूथ-पानाम्—दोनों दलों के नायकों का; उन्मथताम्—मन्थन करते हुए; अमृत—अमृत; लब्धय—प्राप्त करने हेतु; आदि-देवः—आदि परमेश्वर; पृष्ठेन—पीठ से; कच्छप—कछुवे का; वपुः—शरीर; विदधार—धारण किया; गोत्रम्—मन्दर पर्वत; निद्राक्षणः—निद्रा में; अद्रि-परिवर्त—पर्वत के घूमने से; कषाण—रगड़ से; कण्डूः—खुजली।

तब आदि भगवान् मथानी की तरह उपयोग में लाए जा रहे मन्दराचल पर्वत के लिए घुरी (आश्रय स्थल) के रूप में कच्छप रूप में अवतरित हुए। देवता तथा असुर अमृत निकालने के उद्देश्य से मन्दराचल को मथानी बनाकर क्षीर सागर का मंथन कर रहे थे। यह पर्वत आगे-पीछे घूम रहा था जिससे भगवान् कच्छप की पीठ पर रगड़ पड़ रही थी, तब वे अघजगी निद्रा में थे और खुजलाहट का अनुभव कर रहे थे, उनकी पीठ रगड़ी जाने लगी।

तात्पर्य : यद्यपि हमें अनुभव नहीं हैं, किन्तु इस ब्रह्माण्ड में क्षीर सागर विद्यमान है। यहाँ तक कि आज के विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं कि हमारे सिर के ऊपर सैकड़ों-लाखों लोक मँडरा रहे हैं और हर एक लोक की जलवायु भी भिन्न है। श्रीमद्भागवत ऐसी अनेक सूचनाएँ प्रदान करता है, जो हमारे वर्तमान अनुभव से मेल नहीं खातीं। किन्तु जहाँ तक भारतीय मुनियों का प्रश्न है, वे बिना हिचक के स्वीकार करते हैं कि हम प्रामाणिक ज्ञान ग्रन्थों (शास्त्र-चक्षुर्वत्) का अवलोकन करें क्योंकि ज्ञान वैदिक ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है। अतः हम श्रीमद्भागवत में वर्णित क्षीर सागर की उपस्थिति को तब तक नहीं नकार सकते जब तक हम अन्तरिक्ष में मँडराने वाले समस्त लोकों का प्रायोगिक परीक्षण न कर लें। चूँकि ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है, अतः हमें श्रीमद्भागवत के कथन को यथावत् रूप में स्वीकार करना होगा क्योंकि श्रीधर स्वामी, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा अन्य आध्यात्मिक अग्रगण्य जनों ने इसे स्वीकार किया है। वैदिक विधि यही है कि परम अधिकारियों के पदचिह्नों का अनुसरण किया जाय और जो हमारी कल्पना के परे है उसे जानने की यही एकमात्र विधि है।

आदि भगवान् सर्व-शक्तिमान होने के कारण, चाहे जो भी कर सकते हैं, अतः किसी विशेष उद्देश्य से कच्छप या मत्स्य का अवतार ग्रहण करना तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। हमें *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों के कथनों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

देवों तथा असुरों के सामूहिक प्रयास से क्षीर सागर के मन्थन के गुरुतर कार्य के लिए विशाल मन्दराचल पर्वत के लिए गुरुतर आधार की आवश्यकता थी। फलतः आदि भगवान् देवताओं की सहायता के उद्देश्य से विशाल कच्छप के रूप में अवतरित हुए और क्षीर सागर में तैरने लगे। इस पर्वत की रगड़ से उनकी पीठ पर खुजली हो रही थी, किन्तु कुछ-कुछ सोये रहने से उन्हें इसका आभास नहीं हुआ।

त्रै-पिष्टपोरु-भय-हा स नृसिंह-रूपं

कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटि-दंष्ट्र-कराल-वक्त्रम् ।

दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारा-

दूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

त्रै-पिष्टप—देवता; ऊरु-भय-हा—महान् भय को मिटाने वाला; सः—उसने (श्रीभगवान् ने); नृसिंह-रूपम्—नृसिंह अवतार; कृत्वा—करके; भ्रमत्—धूमती हुई; भ्रु-कुटि—भौंहें; दंष्ट्र—दाँत; कराल—अत्यन्त भयानक; वक्त्रम्—मुँह; दैत्य-इन्द्रम्—असुरों के राजा को; आशु—तुरन्त; गदया—गदा से; अभिपतन्तम्—गिरते हुए; आरात्—पास ही; ऊरौ—जाँघों पर; निपात्य—रखकर; विददार—विदीर्ण कर दिया; नखैः—नाखूनों से; स्फुरन्तम्—ललकारते हुए।

श्रीभगवान् ने देवताओं के अदम्य भय को मिटाने के लिए नृसिंह-देव का अवतार ग्रहण किया। उन्होंने असुरों के उस राजा (हिरण्यकशिपु) को अपनी जाँघों में रखकर अपने नाखूनों से विदीर्ण कर डाला, जो हाथ में गदा लेकर भगवान् को ललकार रहा था। उस समय उनकी भौंहें क्रोध से फड़क रही थीं और दाँतों के कारण उनका मुख भयावना लग रहा था।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु तथा उसके पुत्र महान् भगवद्भक्त प्रह्लाद महाराज का जीवन चरित्र

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में वर्णित है। भौतिक उपलब्धियों के कारण हिरण्यकशिपु अत्यन्त बलशाली बन गया था और ब्रह्माजी की कृपा से वह अपने को अमर मानने लगा था। ब्रह्माजी ने उसे अमरत्व का वर नहीं दिया, क्योंकि वे स्वयं अमर जीव नहीं हैं। किन्तु उसे ब्रह्माजी से जो वर प्राप्त हुआ था वह गोल-मोल था, जो लगभग अमर होने के तुल्य था। उसे विश्वास था कि वह न तो किसी

मनुष्य या देवता द्वारा और न किसी ज्ञात हथियार से मारा जा सकता है; न ही वह दिन में अथवा रात में मारा जा सकता है। फिर भी भगवान् ने आधा नर तथा आधा सिंह रूप में अवतार ग्रहण किया जो हिरण्यकशिपु जैसे भौतिक असुर के लिए अकल्पनीय था। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मा के वर को ध्यान में रखते हुए उसका वध कर दिया। उन्होंने उसे अपनी गोद में रखकर मारा जिससे उसका वध न तो पृथ्वी पर हुआ, न जल या आकाश में हुआ। भगवान् नृसिंह ने अपने नाखूनों से हिरण्यकशिपु को विदीर्ण किया, जो उसकी बुद्धि से परे मानवीय हथियार था। हिरण्यकशिपु का शाब्दिक अर्थ है—वह जो स्वर्ण तथा मृदु शय्या के चक्कर में रहे, जो भौतिकतावादी मनुष्यों का परम लक्ष्य है। ऐसे आसुरी पुरुष, जिनका भगवान् से कोई वास्ता नहीं रहता, भौतिक समृद्धि से प्रायः इतराने लगते हैं और भगवान् की सत्ता को ललकारते हुए उनके भक्तों का उत्पीड़न प्रारम्भ कर देते हैं। प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के ही पुत्र थे और चूँकि वे परम भक्त थे, इसलिए पिता उन्हें भरसक कष्ट पहुँचाता था। इस परिस्थिति में भगवान् नृसिंहदेव के रूप में अवतरित हुए और देवों के शत्रु हिरण्यकशिपु को इस प्रकार मारा जो उसकी बुद्धि के लिए अकल्पनीय था। सर्वशक्तिमान भगवान् सदा ही ईश्वरहीन असुरों की भौतिकतावादी योजनाओं को विफल करने वाले हैं।

अन्तः-सरस्युरु-बलेन पदे गृहीतो

ग्राहेण यूथ-पतिरम्बुज-हस्त आर्तः ।

आहेदमादि-पुरुषाखिल-लोक-नाथ

तीर्थ-श्रवः श्रवण-मङ्गल-नामधेय ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-सरसि—नदी के भीतर; उरु-बलेन—श्रेष्ठ शक्ति से; पदे—पाँव; गृहीतः—पकड़ा गया; ग्राहेण—मगर द्वारा; यूथ-पतिः—हाथियों के नायक का; अम्बुज-हस्तः—हाथ में कमल का पुष्प लेकर; आर्तः—अत्यधिक पीड़ित; आह—सम्बोधन किया; इदम्—इस प्रकार; आदि-पुरुष—आदि भोक्ता; अखिल-लोक-नाथ—ब्रह्माण्ड के स्वामी; तीर्थ-श्रवः—तीर्थस्थल की भाँति विख्यात; श्रवण-मङ्गल—जिसके नाम के सुनने मात्र से सारा कल्याण हो; नाम-धेय—जिसका पवित्र नाम जप के योग्य है।

अत्यन्त बलशाली मगर के द्वारा नदी के भीतर पाँव पकड़ लिये जाने से हाथियों का नायक अत्यन्त पीड़ित था, उसने अपनी सूँड़ में कमल का फूल लेकर भगवान् को इस प्रकार सम्बोधित किया, “हे आदि भोक्ता, ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे उद्धारक, हे तीर्थ के समान विख्यात, आपके पवित्र नाम जो जपे जाने के योग्य है, उनके श्रवण मात्र से ही सभी लोग पवित्र हो जाते हैं।”

तात्पर्य : नदी के भीतर बलशाली मगर (ग्राह) द्वारा हाथियों के नायक (गजेन्द्र) का पैर पकड़ लिये जाने की कथा *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कंध में वर्णित है। चूँकि भगवान् ही परम ज्ञान हैं, अतः उनके पवित्र नाम तथा भगवान् में कोई भेद नहीं है। मगर द्वारा आक्रमण किये जाने पर गजेन्द्र अत्यधिक विपत्ति में था। यद्यपि हाथी मगर से बलवान होता है, किन्तु जल में होने पर मगर हाथी से कहीं अधिक बलशाली बन जाता है। चूँकि हाथी अपने पूर्वजन्म में भगवान् का परम भक्त था, अतः अपने पुण्य कर्मों के कारण वह भगवान् का नाम उच्चारण करने में समर्थ था। इस जगत में प्रत्येक जीवात्मा सदैव कष्ट में रहता है, क्योंकि यह जगत ही ऐसा है कि पग-पग पर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। किन्तु जिसने पूर्वजन्म में पुण्य किये हैं वह अपने आप को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाए रखता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१६) में हुई है। किन्तु जो पापकर्म करते हैं, वे भले ही पीड़ित रहें, किन्तु भगवद्भक्ति में नहीं लगते। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१५) में की गई है। भगवान् हरि तुरन्त अपने शाश्वत वाहन गरुड़ पर आसीन होकर प्रकट हुए और हाथी को उबार लिया।

हाथी को भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान था। उसने भगवान् को आदि पुरुष कह कर सम्बोधित किया। भगवान् तथा जीवात्माएँ दोनों चेतन हैं, फलतः भोक्ता हैं, किन्तु समस्त वस्तुओं का स्रष्टा होने के कारण भगवान् आदि भोक्ता (पुरुष) हैं। परिवार में पिता तथा उसके पुत्र निश्चित रूप से भोक्ता होते हैं, किन्तु पिता आदि-भोक्ता होता है और पुत्र परवर्ती भोक्ता। शुद्ध भक्त यह भली-भाँति जानता है कि इस ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुएँ भगवान् की सम्पत्ति स्वरूप हैं और जीवात्मा किसी भी वस्तु का उपभोग उनकी आज्ञा के अनुसार ही कर सकता है। यदि उनकी आज्ञा न रहे, तो मनुष्य निर्दिष्ट वस्तु का स्पर्श तक नहीं कर सकता। आदि-भोक्ता की विशद व्याख्या *ईशोपनिषद्* में की गई है। जो भगवान् तथा अपने में अन्तर को समझता है, वह भगवान् को पहले अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता।

हाथी ने भगवान् को *अखिल-लोकनाथ* कहकर सम्बोधित किया, अतः वे हाथी के भी स्वामी हुए। हाथी भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण ग्राह के आक्रमण से रक्षा किए जाने का अधिकारी था ही और चूँकि भगवान् का व्रत है कि उनके भक्त कभी भी नष्ट नहीं होंगे, अतः यह उचित ही था कि

हाथी ने भगवान् को अपनी रक्षा के लिए बुलाया और दयालु भगवान् तुरन्त आये। यों तो भगवान् सबके रक्षक हैं, किन्तु जो उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार करता है और वृथा गर्व नहीं करता या उनकी समता का दम नहीं भरता उसको वे वरीयता प्रदान करते हैं। वे सदैव श्रेष्ठ हैं। शुद्ध भक्त अपने तथा भगवान् के इस अन्तर को जानता है, अतः शुद्ध भक्त को पूर्णतः आश्रित होने के कारण वरीयता प्राप्त होती है, किन्तु जो भगवान् के अस्तित्व को नकारता है और अपने को भगवान् घोषित करता है, वह असुर है। अतः उसे सीमित संरक्षण प्राप्त होता है और वह भी उतना ही जितना भगवान् चाहते हैं। चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः उनकी सिद्धि भी श्रेष्ठतम है। इसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता।

हाथी ने भगवान् को *तीर्थश्रवः* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है, “तीर्थस्थान के समान विख्यात।” लोग तीर्थ स्थान में अपने अज्ञात पापों के फलों से निवृत्त होने के लिए जाते हैं। किन्तु मनुष्य केवल भगवान् का पवित्र नाम लेने से ही अपने पापकर्मों से निवृत्त हो सकता है। अतः भगवान् तीर्थस्थान के समान ही उत्तम हैं। मनुष्य तीर्थस्थान में जाने पर पापमुक्त हो सकता है, किन्तु भगवान् का पवित्र नाम लेकर वह घर बैठे या अन्यत्र रहते हुए भी पापों से छुटकारा पा लेता है। शुद्ध भक्त के लिए तीर्थस्थानों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह श्रद्धा से भगवान् के नाम का स्मरण करे तो समस्त पापकर्मों से उबर सकता है। भगवान् का शुद्ध भक्त कभी कोई पापकर्म नहीं करता, किन्तु यह सारा जगत पापमय वातावरण से पूरित है, अतः अनजाने में शुद्ध भक्त से भी पाप हो सकते हैं। जो जान बूझकर पापकर्म करता है, वह भगवान् का भक्त होने के योग्य नहीं है, किन्तु यदि शुद्ध भक्त अनजाने में कोई पापकर्म कर बैठता है, तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं, क्योंकि वह सदैव उनका स्मरण करता रहता है।

भगवान् का पवित्र नाम *श्रवण-मंगल* कहलाता है। इसका भावार्थ यह है कि केवल पवित्र नाम के सुनने मात्र से मनुष्य को समस्त शुभ वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र भगवन्नाम को *पुण्य-श्रवण-कीर्तन* कहा गया है। भगवान् के विषय में जप तथा श्रवण करना ही पुण्य है। भगवान् इस पृथ्वी पर अवतरित होकर सामान्य मनुष्यों की भाँति आचरण करते हैं जिससे लोगों के सुनने के लिए कुछ कार्यकलापों की सृष्टि हो, अन्यथा भगवान् का इस जगत से कोई सरोकार नहीं है और न उन्हें

कुछ करने की ही आवश्यकता है। वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट होते हैं और इच्छानुसार कार्य करते हैं। समस्त वेद तथा पुराण उनके विविध कार्यकलापों के विवरणों से भरे हैं, ताकि सामान्य लोग उनके विषय में सुनने तथा पढ़ने के इच्छुक रहें। तो भी सामान्य रूप से आधुनिक कथाएँ तथा उपन्यास लोगों का अधिकांश मूल्यवान समय ले लेते हैं। ऐसा साहित्य कभी कोई भलाई नहीं कर सकता, उल्टे वह नवयुवकों के मन को आन्दोलित करने वाला होता है, जिसमें रजो तथा तमो गुणों की वृद्धि होती है, जिससे भव-बन्धन प्रगाढ़ होता जाता है। सुनने तथा पढ़ने की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग भगवान् के कार्यकलापों को सुनने और पढ़ने में किया जा सकता है। इससे चतुर्दिक् लाभ होगा।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवन्नाम तथा उनके आख्यान श्रवणीय हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ पर नाम-धेय कहा गया है।

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-

श्रक्रायुधः पतगराज-भुजाधिरूढः ।

चक्रेण नक्र-वदनं विनिपाट्य तस्मा-

द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; हरिः—श्रीभगवान् ने; तम्—उसको; अरण-अर्थिनम्—सहायता चाहने वाला; अप्रमेयः—अनन्त शक्तिशाली भगवान्; चक्र—चक्र; आयुधः—अपने अस्त्र से सज्जित; पतग-राज—पक्षियों के राजा (गरुड़) के; भुज-अधिरूढः—पंखों पर आसीन; चक्रेण—चक्र से; नक्र-वदनम्—मगर के मुख को; विनिपाट्य—दो खंड करके; तस्मात्—मगर के मुख से; हस्ते—हाथ में; प्रगृह्य—सूँड़ पकड़ कर; भगवान्—श्रीभगवान् ने; कृपया—अहैतुकी कृपा से; उज्जहार—उद्धार किया।

हाथी की पुकार सुनकर श्रीभगवान् को लगा कि उसे उनकी अविलम्ब सहायता की आवश्यकता है, क्योंकि वह घोर संकट में था। तब पक्षिराज गरुड़ के पंखों पर आसीन होकर भगवान् अपने आयुध चक्र से सज्जित होकर वहाँ पर तुरन्त प्रकट हुए। उन्होंने हाथी की रक्षा करने के लिए अपने चक्र से मगर के मुँह के खण्ड-खण्ड कर दिये और हाथी के सूँड़से पकड़ कर उसे बाहर निकाल दिया।

तात्पर्य : श्रीभगवान् वैकुण्ठ लोक में रहते हैं। कोई यह नहीं अनुमान कर सकता कि यह लोक कितनी दूर स्थित है। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि यदि कोई वायुयान से या मन से उस लोक पर पहुँचना चाहे तो लाखों वर्षों तक यात्रा करने पर भी वहाँ नहीं पहुँच सकेगा। आधुनिक विज्ञानियों ने

वायुयानों का आविष्कार किया है, किन्तु वे भौतिक हैं जबकि योगी मन रूपी यान से यात्रा करने का प्रयास करते हैं। ये योगी अपने मन-यान से तुरन्त ही कितनी भी दूर पहुँच सकते हैं। किन्तु ईश्वर के राज्य वैकुण्ठ लोक तक न तो वायुयान की, न मन-यान की ही पहुँच है, क्योंकि वह भौतिक आकाश से बहुत परे स्थित है। ऐसी स्थिति में भला हाथी की प्रार्थना उतनी दूर तक कैसे सुन पड़ी और भगवान् तत्क्षण उस स्थान पर कैसे पहुँच गये? मानव कल्पना से इन बातों की गणना सम्भव नहीं। यह सब भगवान् की अनन्त शक्ति से ही सम्भव हो सका, इसीलिए भगवान् को यहाँ अप्रमेय कहा गया है, क्योंकि सर्वाधिक बुद्धिमान मनुष्य का मस्तिष्क भी गणित की गणना से उनकी शक्तियों की कल्पना नहीं कर सकता। भगवान् इतनी दूरी से भी सुन सकते हैं, खा सकते हैं और एक पल के अन्तराल में सभी स्थानों में एकसाथ प्रकट हो सकते हैं। ऐसी है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता।

ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां

लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः ।

क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपद-च्छलेन

याच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ज्यायान्—सबसे बड़ा; गुणैः—गुणों में; अवरजः—दिव्य; अपि—यद्यपि वह ऐसा है; अदितेः—अदिति के; सुतानाम्—सभी पुत्रों का (जो आदित्य कहे जाते हैं); लोकान्—सभी लोक; विचक्रमे—बढ़कर; इमान्—इस ब्रह्माण्ड में; यत्—जो; अथ—अतः; अधियज्ञः—श्रीभगवान्; क्ष्माम्—समस्त पृथ्वी; वामनेन—वामन अवतार से; जगृहे—स्वीकार किया; त्रिपद—तीन पग; छलेन—छल से; याच्ञाम्—भिक्षा; ऋते—बिना; पथि चरन्—सत्य मार्ग पर चलते हुए; प्रभुभिः—अधिकारियों द्वारा; न—कभी नहीं; चाल्यः—से रहित होना, च्युत।

भगवान् समस्त भौतिक गुणों से परे होते हुए भी अदिति के पुत्रों (आदित्यों) के गुणों से कहीं बढ़ कर थे। वे अदिति के सबसे कनिष्ठ पुत्र के रूप में प्रकट हुए। और क्योंकि उन्होंने ब्रह्माण्ड के समस्त ग्रहों को पार किया, अतः वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उन्होंने तीन पग भूमि माँगने के बहाने से बलि महाराज की सारी भूमि ले ली। उन्होंने याचना इसीलिए की क्योंकि बिना याचना के, सन्मार्ग पर चलने वाले से कोई उसकी अधिकृत सम्पत्ति नहीं ले सकता।

तात्पर्य : बलि महाराज तथा उनके द्वारा वामनदेव को दान दिये जाने की कथा *श्रीमद्भागवत* के अष्टम स्कन्ध में वर्णित है। बलि महाराज ने अपने बल से ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को जीत लिया था। कोई भी राजा अपने पराक्रम से अन्य राजाओं को जीत सकता है और ऐसा आधिपत्य अधिकृत

समझा जाता है। अतः बलि महाराज के पास ब्रह्माण्ड की सारी भूमि आ गई और वे ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान देने लगे। फलतः भगवान् ने ब्राह्मण भिक्षुक का वेष धारण किया और बलि महाराज से तीन पग भूमि माँगी। भगवान् तो सभी वस्तुओं के स्वामी हैं, अतः वे चाहते तो बलि महाराज की सारी भूमि ले सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि बलि ने यह सारी भूमि राजा के अधिकारों के अनुसार प्राप्त की थी। जब भगवान् ने बलि महाराज से इतना तुच्छ दान माँगा, तो बलि के गुरु शुक्राचार्य ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्योंकि उन्हें पता था कि भिक्षुक के रूप में वामन विष्णु ही थे। जब बलि महाराज को पता चल गया कि भिक्षुक विष्णु ही हैं, तो उन्होंने अपने गुरु की आज्ञा की परवाह न करते हुए माँगी गई भूमि तुरन्त ही दान में देना स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार भगवान् वामन ने ब्रह्माण्ड की सारी भूमि पहले दो पगों में ही नाप ली और बलि महाराज से अपना तीसरा पग रखने के लिए भूमि माँगी। बलि महाराज ने अपने मस्तक पर उनका तीसरा पग रखे जाने में प्रसन्नता व्यक्त की। इस प्रकार अपने पास जो कुछ था, उसे बलि महाराज ने खोया नहीं, वरन् भगवान् से आशीर्वाद प्राप्त किया कि वह उनका नित्य साथी और द्वारपाल बनकर उनके साथ रहे। अतः भगवान् के लिए सर्वस्व अर्पित करके मनुष्य कुछ भी खोता नहीं, वरन् सब कुछ प्राप्त करता है, जिसकी अन्यथा उसे कोई आशा नहीं रहती।

नार्थो बलेरयमुरुक्रम-पाद-शौच-

मापः शिखा-धृतवतो विबुधाधिपत्यम् ।

यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य-

दात्मानमङ्ग मनसा हरयेऽभिमेने ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अर्थः—की तुलना में किसी महत्त्व का; बलेः—शक्ति का; अयम्—यह; उरुक्रम-पाद-शौचम्—श्रीभगवान् के पादप्रक्षालन से प्राप्त; आपः—जल; शिखा-धृतवतः—सिर के ऊपर धारण करने वाले का; विबुध-अधिपत्यम्—देवों के साम्राज्य के ऊपर प्रमुखता; यः—जो; वै—निश्चय ही; प्रतिश्रुतम्—दिया गया वचन; ऋते न—उसके अतिरिक्त; चिकीर्षत्—प्रयास किया गया; अन्यत्—अन्य कुछ; आत्मानम्—अपना शरीर भी; अङ्ग—हे नारद; मनसा—मन से; हरये—हरि के प्रति; अभिमेने—समर्पित।

अपने सिर पर भगवान् के कमल-पाद प्रक्षालित जल को धारण करने वाले बलि महाराज ने अपने गुरु द्वारा मना किये जाने पर भी अपने वचन के अतिरिक्त मन में अन्य कुछ धारण नहीं किया। राजा ने भगवान् के तीसरे पग को पूरा करने के लिए अपना शरीर समर्पित कर दिया।

ऐसे महापुरुष के लिए अपने बाहुबल से जीते गये स्वर्ग के साम्राज्य का भी कोई महत्व नहीं था।

तात्पर्य : बलि महाराज को इतना बड़ा भौतिक त्याग करने के बदले में भगवान् की दिव्य कृपा प्राप्त करने से वैकुण्ठ लोक में स्थान प्राप्त हुआ था जहाँ शाश्वत भोग की उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। अतः बाहुबल से जीते गये स्वर्ग के साम्राज्य को त्याग करके, उन्होंने कुछ खोया नहीं था। दूसरे शब्दों में, जब भगवान् किसी की गाढ़ी कमाई को छीन कर बदले में शाश्वत जीवन के लिए अपनी दिव्य भक्ति, आनन्द तथा ज्ञान प्रदान करते हैं, तो इसे ऐसे शुद्ध भक्त पर भगवान् की विशेष कृपा समझनी चाहिए।

भौतिक सम्पत्ति, चाहे कितनी ही मोहक क्यों न हो, कभी स्थायी नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि स्वेच्छा से ऐसी सम्पत्ति का परित्याग कर दे, अन्यथा इस शरीर का त्याग करते समय इस सारी सम्पत्ति को छोड़ना ही पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि समस्त भौतिक सम्पत्ति नाशवान है और इसका सर्वोत्तम उपयोग है कि इसे भगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया जाय जिससे भगवान् प्रसन्न होकर उसे अपने परम धाम में स्थायी निवास दे सकें।

भगवद्गीता (१५.५-६) में परम धाम की व्याख्या भगवान् ने इस प्रकार की है—

निर्माणमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम ॥

जिस मनुष्य के पास इस जगत में घर, भूमि, सन्तान, समाज, मित्रता तथा सम्पत्ति के रूप में आवश्यकता से अधिक जितना होता है, वह सब थोड़े समय के लिए उसके पास रहता है। कोई भी माया द्वारा उत्पन्न इस भ्रामक सामग्री को स्थायी रूप में नहीं रख सकता। ऐसा मालिक आत्म-साक्षात्कार के विषय में अत्यधिक मोहग्रस्त रहता है, अतः मनुष्य के पास या तो बिल्कुल कम हो या कुछ न हो जिससे वह बनावटी प्रतिष्ठा से दूर रह सके। हम इस जगत में तीनों गुणों से संसर्ग के कारण कलुषित रहते हैं। अतः जो कोई जितना ही इस क्षणिक सम्पत्ति के बजाय भगवद्भक्ति के द्वारा

आध्यात्मिक उन्नति करता है, वह उतना ही भौतिक मोहासक्ति से मुक्त रहता है। जीवन की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने आध्यात्मिक अस्तित्व तथा इसके स्थायी प्रभावों के विषय में पूरा विश्वास होना चाहिए। स्व-अस्तित्व के स्थायित्व के विषय में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से कम रखने या जीवन निर्वाह की आवश्यकता पूरी करने के लिए रखना चाहिए। मनुष्य को कृत्रिम आवश्यकताएँ न उत्पन्न करके न्यूनतम से संतुष्ट रहना चाहिए। कृत्रिम आवश्यकताएँ इन्द्रियों के कार्यकलाप हैं। आधुनिक सभ्यता की प्रगति इन्हीं इन्द्रियों के कार्यकलापों पर आधारित है अथवा दूसरे शब्दों में, यह सभ्यता इन्द्रिय-तृप्ति की सभ्यता है। पूर्ण सभ्यता तो आत्मा की सभ्यता है। इन्द्रिय-तृप्ति चाहने वाला सुसंस्कृत मनुष्य पशुओं के तुल्य है, क्योंकि पशु इन्द्रियों के कार्यकलापों से ऊपर नहीं उठ सकते।

इन्द्रियों से ऊपर मन है। मानसिक चिन्तन की सभ्यता भी पूर्ण नहीं, क्योंकि मन के ऊपर बुद्धि है और *भगवद्गीता* हमें बौद्धिक सभ्यता की जानकारी देती है। वैदिक साहित्य में मानवीय सभ्यता की अनेक दिशाएँ बताई गई हैं जिसमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा की सभ्यताएँ सम्मिलित हैं। *भगवद्गीता* में मूलतः मनुष्य की बुद्धि का विवरण मिलता है, जिससे वह क्रमशः आत्मा की सभ्यता की ओर अग्रसर होता है। *श्रीमद्भागवत* तो आत्मा से सम्बद्ध विषय की पूर्ण मानवीय सभ्यता है। जैसे ही मनुष्य आत्मा की सभ्यता के पद तक उठ जाता है, वह ईश्वर के राज्य में जाने के योग्य बन जाता है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* के उपर्युक्त श्लोकों में मिलता है।

ईश्वर के साम्राज्य की प्रारम्भिक जानकारी से हमें पता लगता है कि वहाँ सूर्य, चन्द्र या बिजली की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन अंधकार से युक्त भौतिक जगत में इनकी आवश्यकता पड़ती है। दूसरे यह कि जो भी आत्मा की सभ्यता अर्थात् भक्तियोग की विधि से उस साम्राज्य तक पहुँचता है उसको जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तब मनुष्य आत्मा में स्थायी रूप से स्थित हो जाता है और उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। बलि महाराज ने अपनी सारी भौतिक सम्पत्ति देकर बदले में आत्मा की सभ्यता स्वीकार की और इस प्रकार वे भगवान् के साम्राज्य में पहुँचने के योग्य हो सके। स्वर्ग का साम्राज्य, जिसे उन्होंने अपनी भौतिक शक्ति के बल से प्राप्त किया

था, ईश्वर के साम्राज्य के समक्ष तुच्छ था।

जो लोग इन्द्रिय-तुष्टि के लिए बनी भौतिक सभ्यता के सुख-साधनों को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें बलि महाराज के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए भगवद्धाम प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जिन्होंने अपने अर्जित भौतिक समृद्धि के बदले में भक्तियोग की विधि स्वीकार की जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में है और विस्तृत व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में है।

तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्ध-
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम् ।
ज्ञानं च भागवतमात्म-सतत्त्व-दीपं
यद्वासुदेव-शरणा विदुरञ्जसैव ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तुभ्यम्—तुमको; च—भी; नारद—हे नारद; भृशम्—अत्यन्त सुन्दर ढंग से; भगवान्—श्रीभगवान्; विवृद्ध—विकसित; भावेन—दिव्य प्रेम से; साधु—साधु रूप आप; परितुष्टः—भली-भाँति संतुष्ट; उवाच—कहा; योगम्—सेवा; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; भागवतम्—भगवान् तथा उनकी भक्ति का विज्ञान; आत्म—स्व; स-तत्त्व—समस्त विवरणों सहित; दीपम्—अंधकार में प्रकाश की भाँति; यत्—जो; वासुदेव-शरणाः—भगवान् वासुदेव के शरणागत; विदुः—उन्हें जानते हैं; अञ्जसा—भली-भाँति; एव—उसी रूप में।

हे नारद, तुम्हें श्रीभगवान् ने अपने हंसावतार में ईश्वर के विज्ञान तथा दिव्य प्रेमभाव के विषय में शिक्षा दी थी। वे तुम्हारी अगाध भक्ति से अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। उन्होंने तुम्हें भक्ति का पूरा विज्ञान भी अत्यन्त सुबोध ढंग से समझाया था, जिसे केवल भगवान् वासुदेव के प्रति पूर्ण समर्पित व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

तात्पर्य : भक्त तथा भक्ति दो परस्पर सम्बद्ध पद हैं। जब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं होना चाहता तब तक वह भक्तिमय सेवा के गूढ़ रहस्यों को नहीं जान सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* अर्थात् भक्ति का विज्ञान समझाना चाहा, क्योंकि वह उनका न केवल मित्र वरन् परम भक्त भी था। बात यह है कि सभी जीवात्माएँ, स्वभावतः परम व्यक्तित्व, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अंश रूप होने के कारण, कर्म करने के लिए अपेक्षतया कुछ सीमा तक स्वतन्त्र भी हैं। अतः भगवान् की भक्ति प्राप्त करने के लिए स्वेच्छ-सहयोगी बनना है और पहले से भक्ति में लगे लोगों के साथ स्वेच्छा से सहयोग करना पहली योग्यता है। ऐसे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करने से प्रत्याशित भक्त क्रमशः भक्ति की प्रविधियाँ सीख सकेगा और धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करके भौतिक संगति के कल्मष से मुक्त हो

सकेगा। ऐसी शुद्धि-प्रक्रिया से प्रत्याशित भक्त में श्रद्धा उत्पन्न होगी और वह उसे भक्ति की दिव्य आस्वाद्य स्थिति तक ऊपर ले जाएगी। इससे उसमें भगवद्भक्ति के प्रति शुद्ध आसक्ति उत्पन्न होगी और उसे दिव्य प्रेम की अवस्था के निकट तक पहुँचाने से पहले आह्लाद के बिन्दु तक ले जाएगी।

भक्ति सम्बन्धी ऐसे ज्ञान के दो उपविभाग किये जा सकते हैं—भक्ति के स्वभाव से सम्बन्धित प्रारम्भिक ज्ञान तथा इसके अनुपालन का गौण ज्ञान। *भगवत* में श्रीभगवान् का, उनकी सुन्दरता का, उनके यश, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, आकर्षण तथा प्रेम के बदले अपनी ओर आकर्षित करने वाले दिव्य गुणों का वर्णन हुआ है। जीवात्मा में भगवान् की प्रेमाभक्ति करने का सहज आकर्षण होता है। भौतिक संगति के प्रभाव से यह आकर्षण कृत्रिम रूप से आच्छादित होता है और *श्रीमद्भगवत* इस कृत्रिम आवरण को सही तौर पर हटाने में सहायक है। अतः इस श्लोक में विशेष उल्लेख है कि *श्रीमद्भगवत* दिव्य ज्ञान के दीप के तुल्य है। भक्ति में दिव्य ज्ञान के ये दोनों उपविभाग उन व्यक्तियों में प्रकट होते हैं, जो वासुदेव की शरण में जा चुके हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है—वासुदेव के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित महापुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं।

चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्व-तेजो

मन्वन्तरेषु मनु-वंश-धरो बिभर्ति ।

दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात् स्व-कीर्तिं

सत्ये त्रि-पृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

चक्रम्—भगवान् का सुदर्शन चक्र; च—भी; दिक्षु—समस्त दिशाओं में; अविहतम्—किसी रोकटोक के बिना; दशसु—दसों दिशाएँ; स्व-तेजः—व्यक्तिगत पराक्रम; मन्वन्तरेषु—मनु के विभिन्न अवतारों में; मनु-वंश-धरः—मनु-वंश के वंशज रूप में; बिभर्ति—शासन करता है; दुष्टेषु—दुष्टों पर; राजसु—उस प्रकार के राजाओं पर; दमम्—उत्पीड़न; व्यदधात्—सम्पन्न किया; स्व-कीर्तिम्—अपना यश; सत्ये—सत्यलोक में; त्रि-पृष्ठे—तीनों लोकों में; उशतीम्—महिमामय; प्रथयन्—स्थापित; चरित्रैः—गुणों द्वारा।

भगवान् ने मनु-अवतार लिया और वे मनुवंश के वंशज बन गये। उन्होंने अपने शक्तिशाली सुदर्शन चक्र से दुष्ट राजाओं का दमन करके उन पर शासन किया। समस्त परिस्थितियों में अबाध रहते हुए, उनका शासन तीनों लोकों तथा ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च सत्यलोक तक फैला था और उनकी महिमामयी कीर्ति से मंडित था।

तात्पर्य : प्रथम स्कंध में मनु के अवतारों की व्याख्या की जा चुकी है। ब्रह्मा के एक दिन में एक-

एक करके चौदह मनु बदलते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा के एक मास में ४२० मनु और एक वर्ष में ५,०४० मनु होते हैं। अपनी गणना के अनुसार, ब्रह्माजी १०० वर्ष तक जीवित रहते हैं, अतः एक ब्रह्मा की जीवन अवधि में ५,०४,००० मनु होते हैं। ऐसे ब्रह्मा असंख्य हैं और वे महाविष्णु के एक उच्छ्वास की अवधि तक जीवित रहते हैं। इस प्रकार हम कल्पना कर सकते हैं कि समस्त संसारों में, जो भगवान् के चतुर्थांश शक्ति के ही बराबर होते हैं, भगवान् के अवतार कैसे कार्य करते हैं।

मन्वन्तर अवतार चक्रधारी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान शक्ति से विभिन्न लोकों के दुष्ट शासकों को दण्डित करता है। मन्वन्तर अवतार भगवान् की दिव्य महिमाओं का प्रसार करते हैं।

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति-

नाम्ना नृणां पुरु-रुजां रुज आशु हन्ति ।

यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध

आयुष्य-वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्वन्तरिः— धन्वन्तरि नामक अवतार; च—तथा; भगवान्— श्रीभगवान्; स्वयम् एव—स्वतः; कीर्तिः— साक्षात् कीर्ति; नाम्ना— नाम से; नृणाम् पुरु-रुजाम्— रुग्ण जीवात्माओं के; रुजः— रोग; आशु— तुरन्त; हन्ति— अच्छा करता है; यज्ञे— यज्ञ में; च— भी; भागम्— भाग, हिस्सा; अमृत— अमृत; आयुः— उम्र; अव— से; अवरुन्धे— प्राप्त करता है; आयुष्य— जीवन काल का; वेदम्— ज्ञान; अनुशास्ति— निर्देश करता है; अवतीर्य— अवतार लेकर; लोके— ब्रह्माण्ड में।

अपने धन्वन्तरि अवतार में भगवान् अपने साक्षात् यश के द्वारा निरन्तर रुग्ण रहने वाली जीवात्माओं के रोगों का तुरन्त उपचार कर देते हैं और उनके कारण ही सभी देवता दीर्घायु प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् सदा के लिए महिमामण्डित हो जाते हैं। उन्होंने यज्ञों में से भी एक अंश निकाल लिया और उन्होंने ही विश्व में ओषधि विज्ञान (आयुर्वेद) का प्रवर्तन किया।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा जा चुका है, प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् रूपी परम स्रोत से ही उद्भूत है, अतः इस श्लोक से यही ध्वनित होता है कि श्रीभगवान् ने अपने धन्वन्तरि अवतार में आयुर्वेद का भी प्रवर्तन किया और इस प्रकार यह ज्ञान वेदों में वर्णित है। वेद समस्त ज्ञान के स्रोत हैं, अतः जीवों के रोगों को पूर्ण रूप से ठीक करने की सारी जानकारी भी उनमें वर्णित है। देहधारी जीवात्माएँ शरीर की रचना के कारण रुग्ण होती रहती हैं। यह शरीर व्याधि का प्रतीक है। रोग तरह-तरह के हो सकते हैं, किन्तु वे शरीर में उसी तरह रहते हैं जैसे प्रत्येक के साथ जन्म तथा मृत्यु।

अतः भगवत्कृपा से न केवल शरीर तथा मन के रोग अच्छे होते हैं, वरन् आत्मा को भी निरन्तर आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। भगवान् का एक नाम *भवौषधि* भी है, जिसका अर्थ है भव रोगों से बचाव का स्रोत।

क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा

ब्रह्म-ध्रुगञ्जित-पथं नरकार्ति-लिप्सु ।

उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्र-वीर्य-

स्त्रिः-सप्त-कृत्व उरुधार-परश्वधेन ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

क्षत्रम्—राजवंश; क्षयाय—घटाने के लिए; विधिना—दैववश; उपभृतम्—बढ़े हुए; महात्मा—परम साधु परशुराम के रूप में भगवान्; ब्रह्म-ध्रुक्—ब्रह्मा का परम सत्य; उद्धन्ति—जिन्होंने परम सत्य मार्ग को त्याग दिया है; नरक-आर्ति-लिप्सु—नरक की यातना के इच्छुक; उद्धन्ति—बाध्य करते हैं; असौ—वे सब; अवनिकण्टकम्—संसार के काँटे; उग्र-वीर्यः—महापराक्रमी; त्रिः-सप्त—इक्कीस बार; कृत्वः—सम्पन्न; उरुधार—अत्यन्त तीक्ष्ण; परश्वधेन—विशाल फरसे से।

जब शासक वर्ग जो क्षत्रिय नाम से जाने जाते थे, परम सत्य के पथ से भ्रष्ट हो गये और नरक भोगने के इच्छुक हो उठे, तो भगवान् ने परशुराम मुनि का अवतार लेकर उन अवांछित राजाओं का उच्छेद किया जो पृथ्वी के लिए कंटक बने हुए थे। इस तरह उन्होंने अपने तीक्ष्ण फरसे के द्वारा क्षत्रियों का इक्कीस बार उच्छेदन किया।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग में, चाहे वह इस लोक में हो या अन्य लोकों में, शासन करने वाले क्षत्रिय वास्तव में सर्वशक्तिमान भगवान् के प्रतिनिधि होते हैं और वे प्रजा को भगवत्साक्षात्कार की ओर अभिमुख कराने के निमित्त होते हैं। प्रत्येक राज्य तथा इसके प्रशासक का, चाहे प्रशासन जैसा भी हो—राज्यतंत्र, तानाशाही लोकतंत्र इत्यादि—मुख्य कर्तव्य प्रजा को भगवत्साक्षात्कार की ओर अभिमुख करना है। यह सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य है और पिता, गुरु तथा अन्ततः राज्य का यह कर्तव्य है कि वे प्रजा को इस ओर ले जाँए। भौतिक संसार की सृष्टि इसी उद्देश्य से हुई है कि उन पतित आत्माओं को अवसर प्राप्त हो सके जो भगवान् की इच्छाओं के विरुद्ध कार्य करके प्रकृति द्वारा बद्ध हो गई है। भौतिक प्रकृति की शक्ति मनुष्य को धीरे-धीरे नित्य दुखों तथा कष्टों की नारकीय अवस्था की ओर ले जाती है। जो बद्ध जीवन के निर्धारित विधानों के विपरीत कार्य करते हैं, वे *ब्रह्मोञ्जित-पथ* कहलाते हैं जिसका अर्थ है कि वे परम सत्य के मार्ग का विरोध कर रहे

हैं, अतः वे दण्ड के भागी होते हैं। भगवान् परशुराम, जो श्रीभगवान् के अवतार हैं, ऐसी ही सांसारिक परिस्थिति में प्रकट हुए और उन्होंने सभी उत्पाती राजाओं का इक्कीस बार संहार किया। उस समय अनेक क्षत्रिय राजा भाग कर भारतवर्ष से बाहर चले गये और *महाभारत* साक्षी है कि मित्र के राजा परशुराम के उत्पीड़न से ही शुरु-शुरु में भारत से प्रवासी बने। जब भी राजा या प्रशासकगण ईश्वरविहीन बन कर ईश्वरविहीन सभ्यता की व्यवस्था करते हैं तब उन्हें इसी प्रकार सभी परिस्थितियों में दण्डित होना पड़ता है। यही सर्वशक्तिमान की व्यवस्था है।

अस्मत्प्रसाद-सुमुखः कलया कलेश

इक्ष्वाकु-वंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।

तिष्ठन् वनं स-दयितानुज आविवेश

यस्मिन् विरुध्य दश-कन्धर आर्तिमाच्छत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अस्मत्—हम सब पर, ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटों तक; प्रसाद—अहैतुकी कृपा; सुमुखः—अत्यन्त उन्मुख; कलया—अपने अंशों सहित; कलेशः—समस्त शक्तियों के स्वामी; इक्ष्वाकु—महाराज इक्ष्वाकु जो सूर्यवंशी थे; वंशे—कुल में; अवतीर्य—जन्म लेकर; गुरोः—पिता अथवा गुरु की; निदेशे—आज्ञा से; तिष्ठन्—स्थित होकर; वनम्—वन में; स-दयिता-अनुजः—अपनी पत्नी तथा अनुज सहित; आविवेश—प्रवेश किया; यस्मिन्—जिसको; विरुध्य—विरोध करके; दश-कन्धरः—दस सिरों वाले, रावण ने; आर्तिम्—महान् कष्ट; आच्छत्—प्राप्त किया।

इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों पर अहैतुकी कृपा के कारण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने अंशों सहित महाराज इक्ष्वाकु के कुल में अपनी अन्तरंगा शक्ति, सीताजी, के स्वामी के रूप में प्रकट हुए। वे अपने पिता महाराज दशरथ की आज्ञा से वन गये और अपनी पत्नी तथा छोटे भाई के साथ कई वर्षों तक वहाँ रहे। अत्यन्त शक्तिशाली दस सिरों वाले रावण ने उनके प्रति कई वर्षों तक अपराध किया और जिससे अन्ततः वह विनष्ट हो गया।

तात्पर्य : भगवान् श्री राम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनके भाई भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उनके अंश हैं। चारों भाई विष्णुतत्त्व हैं। वे कभी भी सामान्य मानव प्राणी नहीं रहे। *रामायण* के अनेक अनैतिक और अज्ञानी टीकाकार भगवान् रामचन्द्रजी के छोटे भाइयों को सामान्य जीवात्माएँ बताते हैं। किन्तु ईश्वरी-विज्ञान (भगवत्तत्त्व) के सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र, इस *श्रीमद्भागवत*, में यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके भाई उनके स्वांश थे। मूल रूप में भगवान् रामचन्द्र वासुदेव के अवतार हैं, लक्ष्मण संकर्षण के, भरत प्रद्युम्न के तथा शत्रुघ्न अनिरुद्ध के अवतार हैं, जो भगवान् के ही अंश हैं। लक्ष्मीजी

सीता के रूप में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति हैं; वे न तो सामान्य स्त्री हैं और न ही दुर्गा की बहिरंगा शक्ति की अवतार हैं। दुर्गा जी भगवान् की बहिरंगा शक्ति हैं और वे शिवजी की संगिनी हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* (४.७) में कहा गया है, जब-जब धर्म पालन में कमी आती है तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान् रामचन्द्र भी ऐसी ही परिस्थितियों में प्रकट हुए; उनके साथ उनकी अंतरंगा शक्ति के ही अंश-रूप भ्राता और लक्ष्मीजी सीता देवी थीं।

भगवान् रामचन्द्र को उनके पिता, महाराज दशरथ, ने अत्यन्त अटपटी परिस्थितियों में वन जाने का आदेश दिया था। भगवान् ने, आदर्श पुत्र की भाँति, उनकी आज्ञा का पालन किया, यद्यपि उन्हें उस समय अयोध्या का राजा घोषित किया गया था। उनके छोटे भाई लक्ष्मण ने उनके साथ जाने की इच्छा व्यक्त की और उनकी शाश्वत पत्नी सीता ने भी वैसी ही इच्छा व्यक्त की। भगवान् ने इन दोनों का आग्रह स्वीकार किया और इन्हें साथ लेकर दण्डकारण्य वन में चौदह वर्षों तक रहने के लिए उन्होंने वन में प्रवेश किया। वन में रहते हुए राम तथा रावण में संघर्ष हुआ और रावण ने राम की पत्नी सीताजी का अपहरण कर लिया। इस संघर्ष का अन्त महान् शक्तिशाली रावण का उसके राज्य तथा परिवार समेत विनाश के साथ हुआ।

सीता जी ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी हैं, किन्तु वे किसी अन्य जीव के द्वारा भोग्या नहीं हैं। वे समस्त जीवों द्वारा, अपने पति रामचन्द्रजी के साथ पूजनीय हैं। रावण जैसा भौतिकतावादी व्यक्ति इस महान् सत्य को नहीं समझ पाता; उल्टे वह, राम से सीता देवी को छीनकर कष्टों का आह्वान करता है। जो भौतिकतावादी व्यक्ति ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति के पीछे पड़े रहते हैं, वे *रामायण* से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि परमेश्वर की श्रेष्ठता को स्वीकार किये बिना भगवान् की प्रकृति का अपहरण (शोषण) रावण की नीति है। रावण अत्यन्त समृद्ध था, यहाँ तक कि उसने अपनी राजधानी लंका को शुद्ध सोने से बनवाया था। चूँकि उसे भगवान् रामचन्द्र की श्रेष्ठता मान्य न थी और उसने उनकी पत्नी सीता का अपहरण किया था, फलतः वह मारा गया और उसके साथ उसका ऐश्वर्य तथा पराक्रम नष्ट हो गया।

भगवान् रामचन्द्र छहों पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त अवतार हैं, इसीलिए उन्हें इस श्लोक में *कलेशः* अर्थात् समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी कहा गया है।

यस्मा अदादुदधिरूढ-भयाङ्ग-वेपो

मार्गं सपद्यरि-पुरं हरवद् दिधक्षोः ।

दूरे सुहृन्मथित-रोष-सुशोण-दृष्ट्या

तातप्यमान-मकरोरग-नक्र-चक्रः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यस्मै—जिसको; अदात्—प्रदान किया; उदधिः—हिन्द महासागर ने; ऊढ-भय—भयभीत; अङ्ग-वेपः—काँपते हुए शरीर से; मार्गम्—मार्ग; सपदि—तुरन्त; अरि-पुरम्—शत्रु की नगरी; हर-वत्—हर (महादेव) के समान; दिधक्षोः—भस्म करने के लिए उद्यत; दूरे—दूरी पर; सु-हृत्—घनिष्ठ मित्र; मथित—पीड़ित; रोष—क्रोध में; सु-शोण—लाल-लाल; दृष्ट्या—ऐसी दृष्टि से; तातप्यमान—ज्वलित; मकर—मगरमच्छ; उग—साँप; नक्र—घड़ियाल; चक्रः—वृत्त, गोला ।

दूरस्थ अपनी घनिष्ठ संगिनी (सीता) के वियोग से दुखी श्रीरामचन्द्र ने अपने शत्रु रावण की नगरी पर हर (शिव जो स्वर्ग के राज्य को भस्म कर देना चाहते थे) के जैसे ज्वलित लाल-लाल नेत्रों से दृष्टि डाली। अपार समुद्र ने उन्हें भय से काँपते हुए मार्ग दे दिया, क्योंकि उसके परिवार के सभी जलचर सदस्य यथा मगरमच्छ, सर्प तथा घड़ियाल भगवान् के रक्त नेत्रों की क्रोधाग्नि से जले जा रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् में भी अन्य संवेदनशील जीवों की भाँति अनुभूति होती है, क्योंकि वे प्रधान एवं आदि व्यक्ति हैं और अन्य समस्त जीवों के परम स्रोत हैं। वे नित्य हैं, प्रमुख हैं अर्थात् अन्य सभी शाश्वत जिवात्माओं में प्रधान हैं। ये अनेक अधीनस्थ नित्य एक-नित्य पर आश्रित हैं, अतः गुणात्मक रूप से ये दोनों एक ही हैं। इसी एकरूपता के कारण इन दोनों नित्यों में सभी रसानुभूतियाँ तो हैं, किन्तु प्रमुख नित्य और अधीनस्थ नित्यों की महानता में मात्रा का अन्तर रहता है। जब रामचन्द्रजी क्रुद्ध होकर लाल लाल जलती हुई आँखें दिखाने लगे तो सारा समुद्र उस शक्ति से इतना तप्त हो उठा कि उसके सारे जलचर जलने लगे और साक्षात् समुद्र भय के मारे काँपने लगा। उसने उन्हें शत्रु की नगरी में पहुँचने का सरल मार्ग दे दिया। निर्विशेषवादियों को भगवान् के इस उग्रभाव पर आपत्ति हो सकती है, क्योंकि वे पूर्णता में नकारात्मकता देखना चाहते हैं। भगवान् के परम होने से निर्विशेषवादी सोचते हैं कि भगवान् में सांसारिक क्रोधभाव नहीं प्रकट होना चाहिए। अल्पज्ञान के कारण ये लोग यह नहीं समझ पाते कि परम पुरुष की भावना गुण और मात्रा की समस्त सांसारिक कल्पना से परे है। यदि भगवान् रामचन्द्र की भावना संसारी होती तो सारा समुद्र तथा उसके जलचर क्यों विचलित होते? क्या

किसी सांसारिक व्यक्ति की लाल-लाल आँखें विशाल सागर को गर्म कर सकती हैं ? ये ऐसे कारण हैं जिनके द्वारा, सगुण तथा निर्गुण विचारधाराओं के अनुसार, परम सत्य में अन्तर किया जाना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है, परम सत्य ही प्रत्येक वस्तु का मूल है, अतः परम पुरुष नश्वर संसार में प्रतिबिम्बित भावनाओं से विहीन नहीं हो सकता। अपितु, परमेश्वर में पाई जाने वाली विभिन्न रसानुभूतियाँ, चाहे क्रोध की हों या करुणा की, गुणात्मक दृष्टिकोण से समान प्रभाव डालती हैं। दूसरे शब्दों में, इन अनुभूतियों के गुणों में कोई सांसारिक अन्तर नहीं होता। भले ही ये सभी परम पद पर होती हैं। ऐसी अनुभूतियाँ परमेश्वर में निश्चय ही अनुपस्थित नहीं रहतीं जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं और दिव्य जगत के विषय में संसारी अनुमान लगाते हैं।

वक्षः-स्थल-स्पर्श-रुग्-महेन्द्र-वाह--

दन्तैर्विडम्बित-ककुब्जुष ऊढ-हासम् ।

सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दार-हर्तु-

विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वक्षः-स्थल—छाती; स्पर्श—छूने से; रुग्—खंडित; महा-इन्द्र—स्वर्ग के राजा के; वाह—वाहन की; दन्तैः—सूँड़ से; विडम्बित—प्रकाशित; ककुब्-जुषः—सभी दिशाएँ; ऊढ-हासम्—अट्टहास; सद्यः—तुरन्त; असुभिः—प्राण; सह—सहित; विनेष्यति—मार डाला गया; दार-हर्तुः—स्त्री को चुराने वाला; विस्फूर्जितैः—सिहरन उत्पन्न करने वाले; धनुषः—धनुष के द्वारा; उच्चरतः—तेजी से विचरण करते हुए; अधिसैन्ये—दोनों पक्षों के सैनिकों के बीच।

जब रावण युद्ध कर रहा था, तो उसकी छाती से टकराकर स्वर्ग के राजा इन्द्र के हाथी की सूँड़ खण्ड-खण्ड हो गई और ये खण्ड बिखरकर चारों दिशाओं को चकाचौंध करने लगे। अतः रावण को अपने शौर्य पर गर्व होने लगा और वह अपने को समस्त दिशाओं का विजेता समझ कर सैनिकों के बीच इतराने लगा। किन्तु भगवान् श्री रामचन्द्र द्वारा अपने धनुष पर टंकार करने पर उसकी वह प्रसन्नता की हँसी उसकी प्राणवायु के साथ ही सहसा बन्द हो गई।

तात्पर्य : कोई कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, जब उससे भगवान् रूठ जाते हैं, तो उसे कोई नहीं बचा सकता। इसी प्रकार, कोई कितना ही निर्बल क्यों न हो, यदि भगवान् उसके रक्षक हैं, तो उसको कोई मार नहीं सकता।

भूमेः सुरेतर-वरूथ-विमर्दितायाः

क्लेश-व्ययाय कलया सित-कृष्ण-केशः ।

जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्य-मार्गः

कर्माणि चात्म-महिमोपनिबन्धनानि ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भूमेः—सारे संसार का; सुर-इतर—देवताओं के अतिरिक्त अन्य; वरूथ—सैनिक; विमर्दितायाः—भार से पीड़ित; क्लेश—कष्ट; व्ययाय—कम करने के लिए; कलया—अपने अंश समेत; सित-कृष्ण—न केवल सुन्दर किन्तु कृष्ण भी; केशः—केशों से युक्त; जातः—प्रकट होकर; करिष्यति—करेगा; जन—सामान्य लोग; अनुपलक्ष्य—कम दिखने वाला; मार्गः—पथ; कर्माणि—कार्य; च—भी; आत्म-महिमा—स्वयं भगवान् की महिमा के; उपनिबन्धनानि—प्रसंग में।

जब पृथ्वी पर, ईश्वर में श्रद्धा न रखने वाले, परस्पर लड़ने वाले राजाओं का भार बढ़ जाता है, तो भगवान् संसार का कष्ट कम करने के लिए अपने अंश समेत अवतरित होते हैं। वे सुन्दर काले-काले केशों से युक्त अपने आदि रूप में आते हैं और अपनी दिव्य महिमा के विस्तार के लिए ही अलौकिक कार्य करते हैं। कोई उनकी महानता का अनुमान नहीं लगा सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण और उनके निकटतम अंश, भगवान् बलदेव, के प्राकट्य का वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलदेव दोनों एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अनेक रूपों तथा शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं और यह सम्पूर्ण इकाई परब्रह्म कहलाती है। भगवान् के ऐसे विस्तारों के दो विभाग हैं—स्वांश तथा विभिन्नांश। सारे स्वांश विस्तार विष्णु-तत्त्व कहलाते हैं और भिन्नांश विस्तार जीव-तत्त्व कहलाते हैं। ऐसे विस्तारों में भगवान् बलदेव, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रथम स्वांश विस्तार हैं।

विष्णुपुराण तथा महाभारत दोनों में श्रीकृष्ण तथा बलदेव की वृद्धावस्था हो जाने पर भी काले-काले बाल बताये गये हैं। भगवान् को *अनुपलक्ष्य मार्गः* अथवा वैदिक पारिभाषिक शब्दावली में *अवाङ्मनसा गोचरः* कहा गया है—अर्थात् सामान्यजनों के लिए सीमित इन्द्रिय-अनुभूति से अनुभवगम्य या दृश्य नहीं हैं। *भगवद्गीता* (७.२५) में कहा गया है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः*। दूसरे शब्दों में, उन्हें अधिकार प्राप्त है कि वे जिसके समक्ष चाहें प्रकट हों या न हों। केवल प्रामाणिक भक्त ही उनके विशिष्ट लक्षणों से उन्हें जान सकते हैं और ऐसे अनेक लक्षणों में से इस श्लोक में एक लक्षण का वर्णन है—*सितकृष्ण केशः*—अर्थात् जिनके सुन्दर काले-काले बाल हैं। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलदेव दोनों के सिरों पर वृद्धावस्था में भी ऐसे बाल रहते हैं। वे बुढ़ापे में

भी सोलह वर्ष के बालकों-से प्रतीत होते थे। श्रीभगवान् का यही विशिष्ट लक्षण है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि यद्यपि वे समस्त जीवात्माओं में सबसे वृद्ध हैं, किन्तु वे सदैव तरुण लगते हैं। आध्यात्मिक देह का यही लक्षण है। भौतिक देह में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग के लक्षण दिखते हैं, किन्तु आध्यात्मिक देह में इन लक्षणों का अभाव रहता है। वैकुण्ठ लोक में रहने वाले जीवात्माओं का भी ऐसा ही आध्यात्मिक शरीर होता है, जिसमें वृद्धावस्था के कोई लक्षण नहीं दिखते। *भागवत* के षष्ठम स्कंध में कहा गया है कि अजामिल को यमदूतों से छुड़ाने के लिए जो विष्णुदूत आये वे तरुण लग रहे थे। इससे भी इस श्लोक के वर्णन की पुष्टि होती है। अतः यह निश्चित हो गया है कि वैकुण्ठ-लोकों में भगवान् या अन्य निवासियों के आध्यात्मिक शरीर इस संसार के मनुष्यों के शरीरों से भिन्न होते हैं। अतः जब भगवान् उस लोक से इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे अपनी आत्ममाया के आध्यात्मिक शरीर समेत आते हैं जिसमें बहिरंगा माया छू तक नहीं पाती। जो यह कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म भौतिक देह धारण करके इस संसार में प्रकट होता है, सर्वथा अनर्गल प्रलाप है। अतः जब भगवान् यहाँ पर आते हैं, तो वे आध्यात्मिक देह में ही आते हैं, भौतिक देह में नहीं। निर्विशेष, ब्रह्मज्योति उनके शरीर से निर्गत मात्र तेज ही है, अतः भगवान् के शरीर तथा उनकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति के गुण में कोई अन्तर नहीं होता।

प्रश्न यह है कि दुष्ट राजाओं द्वारा संसार में उत्पन्न भार को कम करने के लिए सर्वशक्तिमान भगवान् यहाँ पर क्यों आते हैं? निस्सन्देह भगवान् को ऐसे कार्यों के लिए स्वयं आने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों को प्रोत्साहित करने के लिए अपने दिव्य कार्यकलाप प्रदर्शित करने हेतु यहाँ आते हैं, क्योंकि भक्त भगवान् की महिमा का गान करके जीवन का सुख भोगना चाहते हैं। *भगवद्गीता* (९.१३-१४) में कहा गया है कि महात्मागण भगवान् के कार्यकलापों के गान में आनन्द का अनुभव करते हैं। समग्र वैदिक साहित्य का ध्येय मनुष्य के ध्यान को भगवान् तथा उनके कार्यकलापों की ओर उन्मुख करना है। सांसारिक लोगों से सम्बन्धित भगवान् के ये कार्यकलाप शुद्ध भक्तों की चर्चा के विषय बनते हैं।

तोकेन जीव-हरणं यदुलूकि-काया-

त्रै-मासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ।

यद् रिङ्गितान्तर-गतेन दिवि-स्पृशोर्वा

उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तोकेन—बालक द्वारा; जीव-हरणम्—जीव का वध; यत्—जो; उलूकि-काया:—असुर का विशाल शरीर धारण कर लिया; त्रै-मासिकस्य—तीन मास का; च—भी; पदा—पैर से; शकटः अपवृत्तः—छकड़े को पलट दिया; यत्—जो; रिङ्गिता—घुटने के बल चलते; अन्तर-गतेन—बीच में जाकर; दिवि—आकाश में ऊँचे; स्पृशोः—छूते हुए; वा—अथवा; उन्मूलनम्—जड़ समेत उखाड़ लेना; तु—लेकिन; इतरथा—के अतिरिक्त अन्य; अर्जुनयोः—अर्जुन के दो वृक्षों का; न भाव्यम्—सम्भव न था ।

भगवान् श्रीकृष्ण के परमेश्वर होने में कोई सन्देह नहीं है, अन्यथा जब वे अभी अपनी माता की गोद में थे तो पूतना जैसी राक्षसी का वध किस तरह कर सकते थे; तीन मास की आयु में ही अपने पाँव से छकड़े को कैसे पलट सकते थे और जब घुटने के बल चल रहे थे तभी गगनचुम्बी अर्जुन वृक्षों के जोड़े को समूल कैसे उखाड़ सकते थे? ये सभी कार्य स्वयं भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए असम्भव हैं।

तात्पर्य : भगवान् का निर्माण मानसिक कल्पना या वोटों की गणना से कोई भगवान् को निर्मित नहीं कर सकता जैसाकि आजकल के अल्पज्ञानी लोग करने लगे हैं। ईश्वर तो सदैव ईश्वर ही रहता है और सामान्य जीवात्मा नित्य ईश्वर का एक अंश ही है। ईश्वर अद्वितीय है, किन्तु जीवात्माएँ अनगिनत हैं। इन सभी जीवात्माओं का पालन ईश्वर द्वारा होता है। वेदों का यही मत है। जब श्रीकृष्ण अभी माँ की गोद में ही थे तो पूतना राक्षसी उनकी माता के समक्ष प्रकट हुई और उसने शिशु को अपनी गोद में खिलाने के लिए याचना की। माता यशोदा राजी हो गई और वह शिशु को सम्मानीय स्त्री वेश में आई पूतना की गोद में दे दिया गया। पूतना अपने स्तनों के अग्रभाग में विष लगाकर आई थी और इस शिशु को मारना चाह रही थी। और जब सब कुछ पूरा हो गया, तब बाल रूप भगवान् ने उसके स्तनों को इतनी जोर से चूसा कि उसके प्राण निकल गये। उसका तथाकथित छह मील लम्बा शरीर भूमि पर गिर पड़ा। भगवान् को अपने शरीर का पूतना राक्षसी के शरीर जितना विस्तार नहीं करना पड़ा यद्यपि वे चाहते तो छह मील से भी अधिक विशाल बन सकते थे। वामन अवतार में उन्होंने स्वयं को बौना ब्राह्मण बना लिया था, किन्तु जब बलि महाराज ने भूमि देने का वचन दे दिया तो उन्होंने अपने अंगों को ब्रह्माण्ड की चोटी तक लाखों मील लम्बा कर लिया। अतः अपने शरीर को विस्तृत करके

चमत्कार दिखाना श्रीकृष्ण के लिए कोई कठिन कार्य नहीं था, किन्तु उन्होंने प्रगाढ़ मातृप्रेम के कारण ऐसा नहीं किया। यशोदा यदि अपने पुत्र को पूतना की गोद में छह मील तक विस्तृत होते देख लेतीं तो उनके मातृत्व को धक्का लगता और वे जान जातीं कि उनका यह तथाकथित पुत्र श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। तब यशोदा माई को अपने पुत्र के प्रति सहज मातृप्रेम न रह पाता। किन्तु जहाँ तक श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है वे तो सदैव ईश्वर हैं, चाहे वे अपनी माता की गोद में शिशु रूप में हों या वामनदेव के रूप में, सारे ब्रह्माण्ड को नापने वाले हों। उन्हें कठिन तपस्या करके ईश्वर बनने की आवश्यकता नहीं रहती, यद्यपि कुछ लोग ऐसा करके ईश्वर बनने की बात सोचते हैं। कठिन तपस्या द्वारा कोई न तो ईश्वर से एकाकार हो सकता है, न उनके तुल्य बन सकता है, किन्तु वह मात्र अनेक दैवी गुण प्राप्त कर सकता है। जीवात्मा बहुत हद तक दैवी गुण प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह ईश्वर नहीं बन सकता। श्रीकृष्ण बिना किसी तपस्या के सदैव ईश्वर हैं, चाहे वे अपनी माँ की गोद में खेल रहे हों या बड़े होने की अवस्था में हों।

इस प्रकार जब वे तीन मास के थे तो उन्होंने यशोदा माई के घर में छकड़े के पीछे छिपे शकटासुर का वध किया। जब श्रीकृष्ण घुटने के बल रेंग-रेंग कर अपनी माता के कार्यों में बाधा डाल रहे थे, तो उनकी माता ने उन्हें ऊखल में बाँध दिया था, किन्तु नटखट बालक ऊखल को घसीटते हुए यशोदा माई के आँगन में उगे बहुत ऊँचे अर्जुन वृक्षों की जोड़ी के बीच पहुँच गये और जब ऊखल उनमें फँस गया तो उनके खींचने पर दोनों वृक्ष धम्म से गिर पड़े। जब यशोदा माई ने यह घटना देखी तो उन्होंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि उनका बालक गिरे वृक्षों से बच गया है, उन्हें इसका कोई ज्ञान न था कि उन्हीं के बालक ने आँगन में रेंगते-रेंगते यह कृत्य किया है। भगवान् तथा उनके भक्तों के बीच प्रेम का पारस्परिक आदान-प्रदान ऐसा ही है। यशोदा माई ने भगवान् को पुत्र रूप में चाहा और भगवान् उनकी गोदी में शिशुवत् क्रीड़ा करते रहे, किन्तु साथ ही जब-जब आवश्यकता पड़ी, उन्होंने सर्वशक्तिमान भगवान् की भी भूमिका निभाई। ऐसी लीलाओं की यही विशेषता रही कि वे सबों की आकांक्षाओं को पूरा करते रहे। जुड़वाँ विशाल अर्जुन वृक्षों को गिराने के पीछे भगवान् का उद्देश्य था नारद के शाप से वृक्ष बने कुबेर के दोनों पुत्रों को शाप से उबारना और उसके साथ ही यशोदा माई के आँगन में घुटने

के बल सरक-सरक कर चलना जिसे देख कर यशोदा को दिव्य आनन्द प्राप्त हो ।

भगवान् चाहे जैसी भी स्थिति में रहें, रहते तो भगवान् ही हैं, वे इच्छानुसार विराट या लघु रूप धारण कर सकते हैं ।

यद् वै ब्रजे ब्रज-पशून् विषतोय-पीतान्
पालांस्त्वजीवयदनुग्रह-दृष्टि-वृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽति-विष-वीर्य-विलोल-जिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् हृदिन्याम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; वै—निश्चय ही; ब्रजे—वृन्दावन में; ब्रज-पशून्—वहाँ के पशु; विष-तोय—विषाक्त जल; पीतान्—पीने वालों को; पालान्—गवालों को; तु—भी; अजीवयत्—जीवित किया; अनुग्रह-दृष्टि—कृपापूर्ण चितवन की; वृष्ट्या—वृष्टि से; तत्—वह; शुद्धये—शुद्धि के लिए; अति—अत्यधिक; विष-वीर्य—अत्यधिक प्रभावशाली विष; विलोल—लपलपाती; जिह्वम्—जीभ वाला; उच्चाटयिष्यत्—कठोर दण्ड देगा; उरगम्—सर्प को; विहरन्—विनोद में; हृदिन्याम्—नदी में ।

और जब गवालों तथा उनके पशुओं ने यमुना नदी का विषैला जल पी लिया और जब भगवान् ने (अपने बचपन में) अपनी कृपादृष्टि से ही उन्हें जीवित कर दिया । तब यमुना नदी के जल को शुद्ध करने के लिए ही वे उसमें मानो खेल-खेल में कूद पड़े । उन्होंने विषैले कालिय नाग को दण्ड दिया जो अपनी लपलपाती जीभ से विष की लहरें निकाल रहा था । भला परमेश्वर के अतिरिक्त ऐसा महान् कार्य करने में और कौन समर्थ है ?

तत् कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचि-वने परिदह्यमाने ।
उन्नेष्यति ब्रजमतोऽवसितान्त-कालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्य-वीर्यः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; कर्म—कार्य; दिव्यम्—अलौकिक; इव—सदृश; यत्—जो; निशि—रात्रि में; निःशयानम्—चिन्तामुक्त सोते हुए; दाव-अग्निना—वन की अग्नि की लपट से; शुचि-वने—शुष्क वन में; परिदह्यमाने—आग लगाये जाने पर; उन्नेष्यति—उबार लेंगे; ब्रजम्—ब्रज के समस्त वासी; अतः—अतः; अवसित—निश्चय ही; अन्त-कालम्—जीवन के अन्तिम क्षण; नेत्रे—आँखों में; पिधाप्य—मात्र बन्द करके; स-बलः—बलदेव सहित; अनधिगम्य—अगाध; वीर्यः—पराक्रम ।

कालिय नाग को दण्डित करने के दिन ही रात्रि के समय, जब ब्रजभूमि के समस्त वासी निश्चिन्त होकर सो रहे थे तो सूखी पत्तियों के कारण जंगल में अग्नि धधक उठी और ऐसा लगा मानो उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है । किन्तु आँखें बन्द करके बलराम जी के साथ भगवान् ने उन

सबको बचा लिया। ऐसे हैं भगवान् के अलौकिक कार्यकलाप!

तात्पर्य : यद्यपि इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् का यह कार्य अलौकिक है, किन्तु यह समझ लेना चाहिए भगवान् के सारे कार्यकलाप सदैव ही अलौकिक होते हैं और इस प्रकार वे सामान्य जीवों से भिन्न हैं। विशाल अर्जुन वृक्ष को उखाड़ना तथा आँखें बन्द करके वन की धधकती आग को बुझा देना, निश्चय ही मनुष्य द्वारा किसी प्रकार सम्भव नहीं हैं। न केवल ये कार्यकलाप सुनने में आश्चर्यजनक लगते हैं, किन्तु वस्तुतः भगवान् के सारे कार्यकलाप अलौकिक होते हैं जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है। जो भी भगवान् के इन दिव्य एवं अलौकिक कार्यों को समझ लेता है, वह श्रीकृष्ण के धाम में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है और इस वर्तमान भौतिक शरीर को त्यागने के बाद भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का ज्ञाता भगवान् के धाम को जाता है।

गृहीत यद् यदुपबन्धममुष्य माता

शुल्बं सुतस्य न तु तत् तदमुष्य माति ।

यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी

संवीक्ष्य शङ्कित-मनाः प्रतिबोधितासीत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गृहीत—ग्रहण करके; यत् यत्—जो भी; उपबन्धम्—बाँधने की रस्सियाँ; अमुष्य—उसकी; माता—माता; शुल्बम्—रस्सी; सुतस्य—अपने पुत्र का; न—नहीं; तु—तो भी; तत् तत्—क्रमशः; अमुष्य—उसका; माति—पर्याप्त था; यत्—जो; जृम्भतः—जम्हाई लेता; अस्य—उसके; वदने—मुख में; भुवनानि—समस्त लोक; गोपी—ग्वालिन, ग्वालबाला; संवीक्ष्य—अतः इसे देखकर; शङ्कित-मनाः—सन्देहपूर्ण मन; प्रतिबोधिता—भिन्न प्रकार से आश्चर्य; आसीत्—था।

जब गोपी (कृष्ण की धात्री माता यशोदा) अपने पुत्र के दोनों हाथों को रस्सियों से बाँधने का प्रयास कर रही थी तो उसने देखा कि रस्सी हमेशा छोटी पड़ जाती थी, अतः हार कर जब उसने प्रयास करना बन्द कर दिया, तब श्रीकृष्ण ने अपना मुँह खोल दिया तो माता यशोदा को मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड स्थित दिखे। यह देख कर उसे सन्देह हुआ, किन्तु उसे अपने पुत्र की योग-शक्ति का पता भिन्न तरीके से लगा।

तात्पर्य : एक दिन नटखट बालक की तरह कृष्ण ने अपनी माता यशोदा को खिझाना शुरू किया, तो वह दण्ड देने के लिए बालक को रस्सी से बाँधने लगी। किन्तु वह रस्सी को जितना ही बढ़ाती, रस्सी हमेशा छोटी पड़ जाती। आखिर वह थक गई, किन्तु इसी बीच भगवान् ने अपना मुँह खोला और

ममतामयी माँ ने उसके भीतर सभी ब्रह्माण्ड उपस्थित देखे। उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, किन्तु उसने सोचा कि सर्व-शक्तिमान नारायण ने उसके पुत्र की सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करने के लिए चौकसी वश ऐसा कर रखा है। कृष्ण के लिए प्रगाढ़ प्यार होने के कारण वह कभी सोच ही नहीं पाई कि उसका पुत्र साक्षात् भगवान् नारायण ही है। यह भगवान् की अंतरंगा शक्ति योगमाया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के भक्तों के साथ भगवान् की लीलाएँ पूरी होती हैं। ईश्वर के बिना ऐसे विचित्र खेल कौन खेल सकता है ?

नन्दं च मोक्षयति भयाद् वरुणस्य पाशाद्

गोपान् बिलेषु पिहितान् मय-सूनुना च ।

अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण

लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नन्दम्—नन्द (कृष्ण के धर्मपिता) को; च—भी; मोक्षयति—बचाता है; भयात्—भय से; वरुणस्य—जल के देव वरुण के; पाशात्—चंगुल से; गोपान्—ग्वालों को; बिलेषु—पर्वत गुफा में; पिहितान्—रखे गये; मय-सूनुना—मय के पुत्र द्वारा; च—भी; अह्नि आपृतम्—दिन के समय व्यस्तता वश; निशि—रात में; शयानम्—लेटे हुए; अतिश्रमेण—कठिन श्रम के कारण; लोकम्—लोक; विकुण्ठम्—वैकुण्ठ; उपनेष्यति—प्रदान किया; गोकुलम्—सर्वोच्च लोक; स्म—निश्चय ही।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पिता नन्द महाराज को वरुण के भय से बचाया और ग्वालबालों को पर्वत की कन्दरा में से, जहाँ मय के पुत्र ने उन्हें बन्दी कर रखा था, मुक्त किया। यही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन के समस्त वासियों को, जो दिन भर काम में व्यस्त रहकर रात में थक कर निश्चिन्त सोते थे, परव्योम में सर्वोच्च लोक का भागी बना दिया। ये सारे कार्य दिव्य हैं और उनके ईश्वरत्व को सिद्ध करने वाले हैं।

तात्पर्य : एक बार भ्रमवश अर्धरात्रि में ही श्रीकृष्ण के धर्मपिता नन्द महाराज यह सोच कर कि रात समाप्त हो चुकी है, यमुना में स्नान करने गये, तो वरुण देव यह सोचकर उन्हें वरुण लोक लेते गये कि वे भगवान् कृष्ण के दर्शन कर पायेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिता को छुड़ाने गये। वास्तव में नन्द महाराज बन्दी नहीं थे, क्योंकि वृन्दावन के सारे निवासी अहर्निश श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए भक्तियोग की समाधि में निमग्न रहते थे। उन्हें किसी भौतिक कष्ट का भय न था। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है कि दिव्य प्रेमवश पूर्णतः आत्म-समर्पण करके, भगवान् की संगति में रहने से,

मनुष्य को सांसारिक कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि वृन्दावन के वासी दिन भर कठिन परिश्रम करते थे और थक कर रात में चैन की नींद सोते थे। फलतः उन्हें पूजा करने या आध्यात्मिक कार्यों के लिए प्रायः बहुत कम समय मिल पाता था। किन्तु वास्तव में वे सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक कार्यों में ही मग्न रहते थे। उनका हर कार्य आध्यात्मिक होता था, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के साथ उनके सम्बन्धों से ही जुड़ा होता था। उनके कार्यों के केन्द्रबिन्दु श्रीकृष्ण थे, फलतः उनके सारे तथाकथित भौतिक कार्य आध्यात्मिक शक्ति से संतृप्त होते थे। भक्तियोग पद्धति का यही लाभ है। मनुष्य को चाहिए कि वह हर कार्य भगवान् के निमित्त करे और इस प्रकार उसके सम्पूर्ण कार्य कृष्ण के विचार से संतृप्त होंगे जो आध्यात्मिक साक्षात्कार में समाधि का उच्चतम रूप है।

गोपैर्मखे प्रतिहते ब्रज-विप्लवाय

देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।

धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त-दिनानि सप्त-

वर्षो महीध्रमनघैक-करे सलीलम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

गोपैः—गवालों के द्वारा; मखे—स्वर्ग के राजा को बलि प्रदान करने में; प्रतिहते—बाधा डाले जाने पर; ब्रज-विप्लवाय—श्रीकृष्ण की लीलास्थली ब्रजभूमि को तहस-नहस करने के लिए; देवे—स्वर्ग के राजा द्वारा; अभिवर्षति—मूसलाधार वर्षा करके; पशून्—पशु; कृपया—उन पर अहैतुकी कृपा द्वारा; रिरक्षुः—उन्हें बचाने की इच्छा की; धर्त—धारण किया हुआ; उच्छिलीन्ध्रम्—छाते की भाँति उठा लिया; इव—सदृश; सप्त-दिनानि—लगातार सात दिनों तक; सप्त-वर्षः—यद्यपि वे सात वर्ष के थे; महीध्रम्—गोवर्द्धन पर्वत; अनघ—बिना थके; एक-करे—केवल एक हाथ में; सलीलम्—खेल-खेल में।

जब वृन्दावन के गवालों ने श्रीकृष्ण के आदेश से स्वर्ग के राजा इन्द्र को आहुति देना बन्द कर दिया तो लगातार सात दिनों तक मूसलाधार वर्षा होती रही और ऐसा लग रहा था मानो सारी ब्रजभूमि बह जायेगी। तब केवल सात वर्ष की आयु के श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों पर अपनी अहैतुकी कृपावश अपने एक हाथ से गोवर्द्धन पर्वत को उठा लिया। ऐसा उन्होंने वर्षा से पशुओं की रक्षा करने के लिए ही किया।

तात्पर्य : बच्चे प्रायः कुकुरमुत्ता (छत्रक) से खेलते हैं। अभी श्रीकृष्ण सात वर्ष के ही थे कि उन्होंने वृन्दावन स्थित विशाल गोवर्द्धन पर्वत को पकड़ कर छत्रक की भाँति उठा लिया और ब्रजवासियों द्वारा इन्द्र को यज्ञ की आहुतियाँ देने से इनकार किए जाने के कारण पशुओं तथा ब्रजवासियों की इन्द्र के रोष से रक्षा करने के लिए वे उसे लगातार सात दिन तक धारण किये रहे।

वास्तव में यदि कोई परमेश्वर की सेवा में निरत रहे तो देवताओं को बलि देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैदिक साहित्य में देवताओं को संतुष्ट रखने के लिए यज्ञों का जो विधान है, वह याजक के लिए एक प्रकार की प्रेरणा है, जिससे उसे उच्चतर अधिकारियों की उपस्थिति का बोध हो सके। श्रीभगवान् के द्वारा भौतिक कार्यों के नियन्त्रण हेतु देवताओं की नियुक्ति की जाती है और *भगवद्गीता* के अनुसार यदि कोई देवता की पूजा करता है, तो इसे परमेश्वर-पूजन की अप्रत्यक्ष विधि माना जाता है। किन्तु जब कोई परमेश्वर की प्रत्यक्ष पूजा करता है, तो उसके लिए देवताओं के पूजने या विशेष अवस्था में यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फलतः भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों को सलाह दी कि वे स्वर्ग के राजा इन्द्र को किसी प्रकार की बलि भेंट न करें। किन्तु यह जाने बिना कि ब्रजभूमि में भगवान् कृष्ण हैं, इन्द्र ब्रजवासियों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने इस अपराध का बदला लेना चाहा। किन्तु भगवान् होने के कारण, श्रीकृष्ण ने ब्रजभूमि के निवासियों तथा पशुओं को अपनी अन्तरंगा शक्ति से बचा लिया और यह सिद्ध कर दिया कि यदि कोई परमेश्वर का भक्त बन कर उनकी सेवा करता है, तो उसे अन्य देवताओं को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, चाहे वह ब्रह्मा या शिव जैसे उच्चपद वाला देव ही क्यों न हो। इस प्रकार इस घटना से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि श्रीकृष्ण ही श्रीभगवान् हैं और वे ऐसे ही हर परिस्थिति में रहते हैं, चाहे अपनी माँ की गोद में शिशु रूप में हों या सप्तवर्षीय बालक के रूप में अथवा १२५ वर्षीय वृद्ध पुरुष हों। लेकिन प्रत्येक अवस्था में वे सामान्य मनुष्य के स्तर तक कभी नहीं पहुँचे, यहाँ तक कि वृद्धावस्था में भी वे सोलह वर्ष के युवक लगते थे। भगवान् के दिव्य शरीर के ये कुछ विशेष लक्षण हैं।

क्रीडन् वने निशि निशाकर-रश्मि-गौर्या

रासोन्मुखः कल-पदायत-मूर्च्छितेन ।

उद्दीपित-स्मर-रुजां ब्रज-भृद्वधूनां

हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

क्रीडन्—खेलते हुए; वने—वृन्दावन के जंगल में; निशि—रात्रि में; निशाकर—चन्द्रमा; रश्मि-गौर्याम्—श्वेत चाँदनी का; रास-
उन्मुखः—रास करने के लिए इच्छुक; कल-पदायत—मधुर गीतों; मूर्च्छितेन—तथा मूर्च्छना (मधुर संगीत) समेत; उद्दीपित—
जागृत; स्मर-रुजाम्—कामेच्छा; ब्रज-भृत्—ब्रजवासी; वधूनाम्—पत्नियों का; हर्तुः—हरण करने वाले का; हरिष्यति—काट
लेंगे; शिरः—सिर; धनद-अनुगस्य—कुबेर के अनुचर का।

जब भगवान् वृन्दावनवासियों की पत्नियों में अपने मधुर तथा सुरीले गीतों द्वारा कामोत्तेजना जागृत करते हुए वृन्दावन में रासलीला में मग्न थे तो कुबेर के एक धनी अनुचर शंखचूड़ नामक राक्षस द्वारा गोपियों का हरण किये जाने पर भगवान् ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर व्यक्त कथनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि ये नारद के प्रति ब्रह्मा के वचन हैं। वे नारद से भगवान् के अवतार लेने के बाद की घटनाओं का उल्लेख कर रहे हैं। जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं उन्हें भगवान् की लीलाएँ ज्ञात हैं और ब्रह्माजी उनमें से एक हैं, अतः उन्होंने भविष्य में जो होगा उसकी भविष्यवाणी कर दी। भगवान् द्वारा शंखचूड़ का वध निकट की घटना थी, जो रासलीला के बाद घटी न कि उसके साथ साथ। पिछले श्लोकों में हम कालिया नाग को दण्ड देने की लीलाओं के साथ साथ दावाग्नि का वर्णन पढ़ चुके हैं। इसी तरह रासलीला और शंखचूड़ के वध का भी यहाँ वर्णन किया गया है। ये सारी घटनाएँ ब्रह्माजी द्वारा नारद से कही जाने के बाद भविष्य में घटित होनी हैं। भगवान् ने शंखचूड़ का वध होरिका लीला के अवसर पर फाल्गुन मास में किया और आज तक यह उत्सव सारे भारत में होली नाम से विख्यात है और भगवान् की होरिका लीला से एक दिन पूर्व यह उत्सव शंखचूड़ का पुतला जला कर मनाया जाता है।

सामान्य रूप से भगवान् अथवा उनके अवतारों के भावी प्राकट्य तथा उनके कार्यों का वर्णन धर्मग्रन्थों में भविष्यवाणी के रूप में किया जाता है, अतः छद्म अवतारी उन लोगों को धोखा नहीं दे पाते जो प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थों के द्वारा घटनाओं से परिचित होते हैं।

ये च प्रलम्ब-खर-दर्दुर-केश्यरिष्ट--

मल्लेभ-कंस-यवनाः कपि-पौण्ड्रकाद्याः ।

अन्ये च शाल्व-कुज-बल्वल-दन्तवक्र--

सप्तोक्ष-शम्बर-विदूरथ-रुक्मि-मुख्याः ॥ ३४ ॥

ये वा मृधे समिति-शालिन आत्त-चापाः

काम्बोज-मत्स्य-कुरु-सृञ्जय-कैकयाद्याः ।

यास्यन्त्यदर्शनमलं बल-पार्थ-भीम--

व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ये—ये सब; च—पूर्णतः; प्रलम्ब—प्रलम्ब नामक असुर; खर—धेनुकासुर; दर्दुर—बकासुर; केशी—केशी नामक असुर; अरिष्ट—अरिष्टासुर; मल्ल—कंस के दरबार का पहलवान; इभ—कुवलयापीड़; कंस—मथुरा का राजा तथा श्रीकृष्ण का मामा; यवनाः—फारस तथा अन्य निकटवर्ती देशों के राजा; कपि—द्विविद; पौण्ड्रक—आद्याः—पौण्ड्रक इत्यादि; अन्ये—अन्य; च—भी; शाल्व—राजा शाल्व; कुज—नरकासुर; बल्लल—राजा बल्लल; दन्तवक्र—मृत शिशुपाल का भाई, कृष्ण के प्रतिद्वन्द्वी; सप्तोक्ष—राजा सप्तोक्ष; शम्बर—राजा शम्बर; विदूरथ—राजा विदूरथ; रुक्मि-मुख्याः—श्रीकृष्ण की प्रथम रानी रुक्मिणी का भाई; ये—ये सब; वा—अथवा; मृधे—युद्ध भूमि में; समिति-शालिनः—अत्यन्त शक्तिमान; आत्त-चापाः—धनुष-बाण से सज्जित; काम्बोज—काम्बोज का राजा; मत्स्य—द्वर्भंग का राजा; कुरु—धृतराष्ट्र के पुत्र; सृञ्जय—राजा सृञ्जय; कैकय-आद्याः—कैकय का राजा तथा अन्य; यास्यन्ति—प्राप्त करेंगे; अदर्शनम्—ब्रह्मज्योति से निर्विशेष मिलन; अलम्—क्या कहें, बस; बल—बलदेव, श्रीकृष्ण के अग्रज; पार्थ—अर्जुन; भीम—भीम, पाण्डवों में दूसरे; व्याज-आह्वयेन—छद्म नामों से; हरिणा—हरि के द्वारा; निलयम्—धाम; तदीयम्—उसका।

प्रलम्ब, धेनुक, बक, केशी, अरिष्ट, चाणूर, मुष्टिक, कुवलयापीड़ हाथी, कंस, यवन, नरकासुर तथा पौण्ड्रक जैसे असुर, शाल्व, द्विविद वानर तथा बल्लल, दन्तवक्र, सातों साँड़, शम्बर, विदूरथ तथा रुक्मी जैसे सिपहसालार तथा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, सृञ्जय तथा कैकय जैसे वीर योद्धा, साक्षात् हरि से अथवा बलदेव, अर्जुन, भीम आदि नामों की आड़ में स्वयं श्रीभगवान् से भीषण युद्ध करेंगे और इस प्रकार से मारे गये सभी असुर या तो निर्विशेष ब्रह्मज्योति को प्राप्त होंगे या वैकुण्ठ लोक में स्थित भगवान् के धाम को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत दोनों में जितने ही अवतार होते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण की विभिन्न शक्तियों के प्रदर्शन हैं। बलदेव तो श्रीभगवान् के निकटतम स्वांश विस्तार हैं, किन्तु अर्जुन, भीम उनके निजी पार्षद हैं। जब भगवान् अपने समस्त पार्षदों तथा शक्तियों समेत प्रकट होंगे (और जब वे प्रकट होते हैं, तो इसी तरह) तो उपद्रवी व्यक्ति तथा प्रलम्ब जैसे असुर तथा आसुरी लोग या तो स्वयं भगवान् द्वारा या उनके पार्षदों द्वारा मारे जाएंगे। इन सबका स्पष्ट वर्णन दशम स्कंध में किया जाएगा। किन्तु हमें ज्ञात होना चाहिए कि उपर्युक्त सभी जीवात्माएँ या तो ब्रह्म-ज्योति में मिल करके या भगवान् के धाम वैकुण्ठ लोक में प्रविष्ट होकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। इसकी व्याख्या भीष्मदेव द्वारा पहले ही (प्रथम स्कंध में) हो चुकी है। जिन व्यक्तियों ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में या अन्यत्र भगवान् या बलदेव इत्यादि के साथ युद्ध किया है, वे मृत्यु के समय अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार आध्यात्मिक पद प्राप्त करेंगे। जो ईश्वर को पहचान गए थे वे वैकुण्ठ में प्रविष्ट होंगे और जिन्होंने ईश्वर को परमशक्तिमान रूप में अनुभव किया है वे ब्रह्मज्योति में विलीन होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। लेकिन उनमें से सभी भौतिक संसार से मुक्त हो जाएँगे। जब भगवान् के साथ शत्रुता रखने का ऐसा लाभ

मिलता है, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान् की सेवा की है, उनकी स्थिति क्या होगी ?

कालेन मीलित-धियामवमृश्य नृणां

स्तोकायुषां स्व-निगमो बत दूर-पारः ।

आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां

वेद-द्रुमं विट-पशो विभजिष्यति स्म ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के साथ; मीलित-धियाम्—कम बुद्धिमान मनुष्यों का; अवमृश्य—कठिनाई को ध्यान में रखते हुए; नृणाम्—मनुष्यों की; स्तोका-आयुषाम्—अल्पजीवी लोगों का; स्व-निगमः—अपने द्वारा संकलित वैदिक साहित्य; बत—ठीक-ठीक; दूर-पारः—अत्यन्त कठिन; आविर्हितः—के रूप में प्रकट होकर; तु—लेकिन; अनुयुगम्—युग के अनुसार; सः—वह (भगवान्); हि—निश्चय ही; सत्यवत्याम्—सत्यवती के गर्भ में; वेद-द्रुमम्—वेदरूपी कल्पवृक्ष; विट-पशः—शाखाओं के विभाजन द्वारा; विभजिष्यति—बाँट देगा; स्म—मानो ।

सत्यवती के पुत्र (व्यासदेव) रूप में अवतार ग्रहण करके स्वयं भगवान् वैदिक साहित्य के संग्रह को अल्पजीवी अल्पज्ञों के लिए कठिन समझकर वैदिक ज्ञानरूपी वृक्ष को युग विशेष की परिस्थितियों के अनुसार शाखाओं में विभाजित कर देंगे ।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्रह्मा ने कलियुग के अल्पजीवी मनुष्यों के लिए श्रीमद्भागवत के भावी संकलन का उल्लेख किया है । जैसाकि प्रथम स्कन्ध में बताया जा चुका है कलियुग के अल्पज्ञ मनुष्य अल्पजीवी होंगे और साथ ही ईश्वरविहीन मानव समाज होने के कारण जीवन की अनेक समस्याओं से उद्विग्न होंगे । भौतिक प्रकृति के नियमों के अनुसार, शरीर की भौतिक सुविधाओं में उन्नति का होना तमोगुण का सूचक है । ज्ञान की वास्तविक उन्नति का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार । किन्तु कलियुग के अल्पज्ञानी पुरुष भ्रमवश एक सौ वर्ष की लघुजीवन-अवधि को ही (जो अब घट कर ४० या ६० वर्ष हो चुकी है) सब कुछ मान बैठते हैं । वे अल्पज्ञानी हैं, क्योंकि उन्हें जीवन की नित्यता का ज्ञान नहीं होता; वे चालीस वर्षों तक रहने वाले क्षणिक भौतिक शरीर को जीवन का मूल तत्त्व मान लेते हैं । ऐसे मनुष्य गधों तथा बैलों के तुल्य हैं । किन्तु भगवान् समस्त जीवों को, दयालु पिता की भाँति, भगवद्गीता जैसे ग्रन्थों के रूप में और स्नातकों के लिए श्रीमद्भागवत के रूप में विपुल वैदिक ज्ञान प्रदान करते रहते हैं । इसी प्रकार विभिन्न प्राकृतिक गुणों से युक्त विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के लिए व्यासदेव ने पुराणों तथा महाभारत की रचना की । किन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ वैदिक सिद्धान्तों से

पृथक् नहीं है।

देव-द्विषां निगम-वर्त्मनि निष्ठितानां
 पूर्धर्मयेन विहिताभिरदृश्य-तूर्भिः ।
 लोकान् घ्नतां मति-विमोहमतिप्रलोभं
 वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

देव-द्विषाम्— भगवद्भक्तों के प्रति ईर्ष्या रखने वालों का; निगम— चारों वेद; वर्त्मनि— के पथ पर; निष्ठितानाम्— भलीभाँति स्थिर हुआ का; तूर्भिः— प्रक्षेपास्त्रों (राकेटों) से; मयेन— परम विज्ञानी मय द्वारा; विहिताभिः— निर्मित; अदृश्य-तूर्भिः— आकाश में अलक्ष्य; लोकान्— विभिन्न लोक; घ्नताम्— संहार करने वालों का; मति-विमोहम्— मन का मोह; अतिप्रलोभम्— अत्यन्त आकर्षक; वेषम्— वेष, पहनावा; विधाय— ऐसा करके; बहु भाष्यते— अत्यधिक बातें करेगा; औपधर्म्यम्— उपधर्म।

जब नास्तिक लोग वैदिक विज्ञान में अत्यन्त दक्ष बनकर परम विज्ञानी मय के द्वारा निर्मित श्रेष्ठ प्रक्षेपास्त्रों में चढ़कर आकाश में अदृश्य उड़ते हुए विभिन्न लोकों के वासियों का संहार करेंगे, तो बुद्ध रूप में अत्यन्त आकर्षक वेष धारण करके भगवान् उनके मस्तिष्कों को मोह लेंगे और उन्हें उपधर्मों का उपदेश देंगे।

तात्पर्य : भगवान् बुद्ध का यह अवतार और आधुनिक मानव इतिहास के अवतारी बुद्ध एक नहीं हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, इस श्लोक में वर्णित बुद्ध अवतार एक अन्य कलियुग में हुआ था। एक मनु के जीवन काल में बहत्तर से अधिक कलियुग होते हैं और इनमें से एक में यहाँ पर वर्णित बुद्ध अवतार लेंगे। भगवान् बुद्ध का अवतार तब होता है जब लोग अत्यधिक भौतिकतावादी हो जाते हैं और तब वे सामान्य धर्म का उपदेश देते हैं। ऐसी अहिंसा स्वयं में धर्म न होकर धार्मिक लोगों का महत्त्वपूर्ण गुण होती है। यह एक सामान्य बुद्धि का धर्म है, क्योंकि इसमें मनुष्य को उपदेश दिया जाता है कि वह किसी पशु या जीवित प्राणी को हानि न पहुँचाये, क्योंकि उसके हानिकारक कर्म कर्ता को भी हानि पहुँचाने वाले होते हैं। किन्तु अहिंसा के इन सिद्धान्तों को सीखने के पूर्व, उसे दो अन्य नियम भी सीखने पड़ते हैं। ये हैं—विनम्र बनना तथा निरभिमानी होना। विनम्र तथा निरभिमानी बने बिना वह निरापद तथा अहिंसक नहीं बन सकता। अहिंसक बनने के बाद उसे सहिष्णुता तथा सादगी सीखनी पड़ती है। मनुष्य को महान् धर्मोपदेशकों तथा आध्यात्मिक नेताओं का सम्मान करना चाहिए और इन्द्रियों पर संयम रखने, घर तथा परिवार के प्रति विरक्त रहने और भगवान् की सेवा करने का

अभ्यास करना चाहिए। अन्ततः उसे भगवान् को स्वीकार करके उनका भक्त बनना होता है अन्यथा यह धर्म नहीं कहलाता। धार्मिक सिद्धान्तों के केन्द्र में भगवान् होने अन्यथा सामान्य नैतिक उपदेश मात्र उपधर्म होते हैं, जो धर्म के ही निकट होते हैं।

यद्दालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः

पाषण्डिनो द्विज-जना वृषला नृदेवाः ।

स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र

शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब ऐसा होता है; आलयेषु—घर में; अपि—भी; सताम्—सभ्य व्यक्ति; न—नहीं; हरेः—श्री भगवान् की; कथाः—कथा; स्युः—होगी; पाषण्डिनः—नास्तिक; द्विज-जनाः—अपने को उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) वाला घोषित करने वाले; वृषलाः—निम्नवर्गीय शूद्र; नृ-देवाः—राज्य के मन्त्री; स्वाहा—यज्ञ-स्तोत्र; स्वधा—यज्ञ की सामग्री; वषट्—यज्ञ वेदी; इति—ये सब; स्म—होंगे; गिरः—शब्द; न—कभी नहीं; यत्र—कहीं भी; शास्ता—दण्ड देने वाला; भविष्यति—प्रकट होगा; कलेः—कलियुग का; भगवान्—श्री भगवान्; युग-अन्ते—युग के अन्त में।

तत्पश्चात् कलियुग के अन्त में, जब तथाकथित सन्तों तथा द्विजों के घरों में भी ईश्वर की कथा नहीं होगी और जब सरकार की शक्ति निम्न कुल में उत्पन्न शूद्रों अथवा उनसे भी निम्न लोगों में से चुने गये मन्त्रियों के हाथों में चली जाएगी और जब यज्ञ विधि के विषय में कुछ भी, यहाँ तक कि उच्चारण भी, ज्ञात नहीं रहेंगे तो उस समय भगवान् परम दण्डदाता के रूप में प्रकट होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर इस कलियुग के अन्तिम चरण में भौतिक जगत की निकृष्ट अवस्थाओं के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। इन अवस्थाओं का सार-समाहार ईश्वरविहीनता है। यहाँ तक कि तथाकथित सन्त व समाज के उच्च वर्ण, जिन्हें सामान्य रूप से द्विज-जन कहा जाता है, नास्तिक हो जाएँगे। फलतः वे सब ईश्वर का पवित्र नाम तक भूल जाएँगे उनके, कार्यकलाप की बात तो दूर रही। समाज के उच्च वर्ण अर्थात् समाज के भाग्य-विधायक ज्ञानी पुरुष, समाज में शान्ति तथा व्यवस्था के उत्तरदायी प्रशासक वर्ग तथा समाज की आर्थिक उन्नति के प्रदर्शक व्यवसायी वर्ग—इस सबों को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए; उन्हें उनके नाम, गुण, लीला, पार्षद, सामग्री, व्यक्तित्व आदि से परिचित होना चाहिए। समाज के उच्च वर्गों तथा सन्तों की पहचान उनके तत्त्व-ज्ञान के अनुपात से की जाती है, उनके जन्म या शारीरिक उपाधियों से नहीं। तत्त्व-ज्ञान तथा भक्ति के व्यावहारिक ज्ञान के बिना ये उपाधियाँ शवों

के अलंकरणों के तुल्य समझी जाती हैं और जब समाज में ऐसे अलंकरणों की बाढ़ आ जाती है, तो मनुष्य के प्रगतिशील, शान्त जीवन में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाज के उच्च वर्गों में प्रशिक्षण या संस्कृति का अभाव होने से वे अब द्विज-जन कहलाने के अधिकारी नहीं रहते। द्विज की महत्ता की व्याख्या इन महान् ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मिलती है, किन्तु यहाँ पुनः बता देना अभीष्ट है कि माता-पिता के सम्भोग से होने वाला जन्म पशु जन्म कहलाता है। किन्तु ऐसा पशु जन्म तथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन पर आधारित पशु जीवन आध्यात्मिक जीवन की किसी वैज्ञानिक संस्कृति के बिना शूद्र जीवन अर्थात् निम्न श्रेणी के व्यक्तियों का असंस्कृत जीवन है। यहाँ पर उल्लेख है कि कलियुग में समाज की प्रशासन शक्ति असंस्कृत, ईश्वरविहीन श्रमजीवी वर्ग के हाथों में चली जाएगी और नृदेव (अथवा सरकारी मन्त्रीगण) वृषल अर्थात् समाज के निम्न असंस्कृत लोग होंगे। यदि मानव समाज ऐसे असंस्कृत निम्न श्रेणी के लोगों से भरा रहे तो सुख तथा शान्ति की आशा व्यर्थ है। मनुष्यों में ऐसे असंस्कृत सामाजिक पशुओं के लक्षण पहले से विद्यमान हैं। जन-नायकों का कर्तव्य है कि इस ओर ध्यान दें और तत्त्व ज्ञान में प्रशिक्षित द्विज लोगों को प्रतिष्ठित करके सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने का प्रयास करें। सारे विश्व में *श्रीमद्भागवत* की संस्कृति के प्रसार से ही यह सम्भव है। मानव समाज की अधोगति होने पर भगवान् कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और निर्दय बनकर समस्त आसुरी लोगों का बध कर देते हैं।

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः

स्थानेऽथ धर्म-मख-मन्वमरावनीशाः ।

अन्ते त्वधर्म-हर-मन्यु-वशासुराद्या

माया-विभूतय इमाः पुरु-शक्ति-भाजः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सर्गे—सृष्टि के प्रारम्भ में; तपः—तपस्या; अहम्—मैं; ऋषयः—ऋषिगण; नव—नौ; ये प्रजेशाः—जो उत्पन्न करने वाले हैं; स्थाने—सृष्टि का पालन करते समय मध्य में; अथ—निश्चय ही; धर्म—धर्म; मख—भगवान् विष्णु; मनु—मनुष्यों के पिता; अमर—देवता जिन पर पालन का भार है; अरवनीशाः—विभिन्न लोकों के राजा; अन्ते—अन्त में; तु—लेकिन; अधर्म—अधर्म; हर—शिव; मन्यु-वश—क्रोध के वशीभूत; असुर-आद्याः—नास्तिक, भक्तों के शत्रु; माया—शक्ति; विभूतयः—शक्तिशाली प्रतिनिधि; इमाः—ये सब; पुरु-शक्ति-भाजः—परम शक्तिशाली भगवान् के।

सृष्टि के प्रारम्भ में तपस्या, मैं (ब्रह्मा) तथा जन्म देने वाले ऋषि प्रजापति रहते हैं; फिर सृष्टि के पालन के अवसर पर भगवान् विष्णु, नियामक देवता तथा विभिन्न लोकों के राजा रहते हैं।

किन्तु अन्त काल में अधर्म बचा रहता है और रहते हैं शिव तथा क्रोधी नास्तिक इत्यादि। ये सब के सब परम शक्ति रूप भगवान् की शक्ति के विभिन्न प्रतिनिधियों के रूप में रहते हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत भगवान् की शक्ति से उत्पन्न है, जिसका प्राकट्य सृष्टि के प्रारम्भ में आदि प्राणी ब्रह्मा की तपस्या से होता है। इसके बाद नौ प्रजापति आते हैं, जिन्हें महर्षि कहते हैं। जब सृष्टि के पालन की अवस्था आती है, तो भगवान् विष्णु की भक्ति या यथार्थ धर्म, विभिन्न देवता तथा विभिन्न लोकों के राजा प्रकट होते हैं, जो विश्व का भरण-पोषण करते हैं। जब इस सृष्टि का अन्त होने को होता है, तो सर्वप्रथम अधर्म प्रकट होता है, फिर क्रोधी नास्तिकों के साथ-साथ शिव रहते हैं। किन्तु ये सब परमेश्वर के विभिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। फलतः ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव (शिव) प्रकृति के विभिन्न गुणों के भिन्न-भिन्न अवतार हैं। विष्णु सतोगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के तथा शिव तमोगुण के स्वामी हैं। इस प्रकार यह भौतिक सृष्टि क्षणिक अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं और इसका उद्देश्य उन बद्धजीवों को, जो इस भौतिक जगत में आ फँसे हैं, मुक्ति का अवसर प्रदान करना है और इसमें जो मनुष्य भगवान् विष्णु के संरक्षण में सतोगुण प्राप्त कर लेता है, उसे वैष्णव नियमों का पालन करने के कारण, मुक्त होने का और भगवद्धाम जाने का सर्वाधिक अवसर मिलता है जहाँ से इस दुखमय जगत में फिर कभी लौटना नहीं होता।

विष्णोर्नु वीर्य-गणनां कतमोऽर्हतीह

यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।

चस्कम्भ यः स्व-रहसास्खलता त्रि-पृष्ठं

यस्मात् त्रि-साम्य-सदनादुरु-कम्पयानम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विष्णोः—भगवान् विष्णु का; नु—लेकिन; वीर्य—पराक्रम; गणनाम्—गिनती में; कतमः—ऐसा कौन है; अर्हति—इसे करने में सक्षम है; इह—इस जगत में; यः—जो; पार्थिवानि—परमाणु; अपि—भी; कविः—महान् विज्ञानी; विममे—गिन पाया होगा; रजांसि—कणों को; चस्कम्भ—पकड़ सके; यः—जो; स्व-रहसा—अपने पैर से; अस्खलता—बिना रुके; त्रि-पृष्ठम्—उच्चतम अन्तरिक्ष; यस्मात्—जिससे; त्रि-साम्य—तीनों गुणों का सन्तुलन; सदनात्—उस स्थान तक; उरु-कम्पयानम्—अत्यधिक विचलित।

भला ऐसा कौन है, जो विष्णु के पराक्रम का पूरी तरह से वर्णन कर सके? यहाँ तक कि वह विज्ञानी भी, जिसने ब्रह्माण्ड के समस्त कणों के परमाणुओं की गणना की होगी, वह भी ऐसा नहीं कर सकता। वे ही एकमात्र ऐसे हैं जिन्होंने त्रिविक्रम के रूप में जब अपने पाँव को

बिना प्रयास के सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, से भी आगे प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था तक हिलाया था, तो सारा ब्रह्माण्ड हिलने लगा था।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानियों की सर्वोच्च वैज्ञानिक प्रगति परमाणु शक्ति है, किन्तु किसी भी भौतिक विज्ञानी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कणों में निहित परमाणुओं का कोई अनुमान नहीं है। और यदि कोई इन सूक्ष्म कणों को गिन भी ले अथवा आकाश को बिस्तर की भाँति मोड़ भी सके, तो भी वह परमेश्वर के वीर्य तथा शक्ति का अनुमान लगाने में असमर्थ होगा। वे त्रिविक्रम कहलाते हैं, क्योंकि अपने वामन अवतार में उन्होंने अपने पदचाप को सर्वोच्च सत्यलोक से भी आगे फैला दिया था और वे तीनों गुणों की साम्यावस्था तक पहुँच गये थे जिसे भौतिक जगत का छादन (कोश) कहा जाता है। भौतिक आकाश के ऊपर भौतिक छादन के सात स्तर (कोश) हैं और भगवान् ने इन सातों को भेद दिया था। उन्होंने अपने अँगूठे से छेद बना दिया जिससे होकर कारणार्णव का जल भौतिक आकाश में छन कर पहुँचता है और यह धारा पवित्र गंगा नदी कहलाती है, जो तीनों लोकों को पवित्र बनाती है। दूसरे शब्दों में, विष्णु के समान दिव्य शक्ति वाला अन्य कोई नहीं। वे सर्वशक्तिमान हैं और न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर।

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्र-जास्ते

माया-बलस्य पुरुषस्य कुतोऽवरा ये ।

गायन् गुणान् दश-शतानन आदि-देवः

शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त, पार; विदामि—जानता हूँ; अहम्—मैं; अमी—तब ये सब; मुनयः—मुनिगण; अग्र-जाः—तुमसे पूर्व उत्पन्न; ते—तुम; माया-बलस्य—सर्वशक्तिमान का; पुरुषस्य—पुरुष (भगवान्) का; कुतः—अन्तों की क्या बात; अवराः—हमारे बाद उत्पन्न; ये—जो; गायन्—गीत के द्वारा; गुणान्—गुण; दश-शत-आननः—एक सहस्र मुखों वाला; आदि-देवः—भगवान् का प्रथम अवतार; शेषः—शेष नामक; अधुना—आज तक; अपि—भी; समवस्यति—पा सकता है; न—नहीं; अस्य—उसका; पारम्—पार, अन्त।

न तो मैं और न तुमसे पहले उत्पन्न हुए मुनिगण ही सर्वशक्तिमान भगवान् को भलीभाँति जानते हैं। अतः जो हमारे बाद उत्पन्न हुए हैं, वे उनके विषय में क्या जानेंगे? यहाँ तक कि भगवान् के आदि-अवतार शेष भी, जो अपने एक सहस्र मुखों से भगवान् के गुणों का वर्णन करते रहते हैं, ऐसे ज्ञान का अन्त नहीं पा सके हैं।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् की तीन मूल शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था और इन तीनों शक्तियों के अनन्त विस्तार हैं। अतः शक्तियों के विस्तार की गणना कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है, यहाँ तक कि भगवान् स्वयं शेष अवतार में इन शक्तियों का अनुमान नहीं लगा पाते, यद्यपि वे अपने सहस्र मुखों से इनका वर्णन करते रहते हैं।

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः

सर्वात्मनाश्रित-पदो यदि निर्व्यलीकम् ।

ते दुस्तरामतितरन्ति च देव-मायां

नैषां ममाहमिति धीः श्व-शृगाल-भक्ष्ये ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—केवल उन्हीं पर; सः—भगवान्; एषः—यह; भगवान्—श्रीभगवान्; दययेत्—दया दिखाता है; अनन्तः—अनन्त शक्तियाँ; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से, बिना हिचक के; आश्रित-पदः—शरणागत जीव; यदि—यदि इस प्रकार शरण में आता है; निर्व्यलीकम्—बिना बनावट के; ते—केवल वे; दुस्तराम्—दुर्लभ; अतितरन्ति—पार पा सकते हैं; च—तथा सामग्री; देव-मायाम्—भगवान् की चतुर्दिक् शक्तियाँ; न—नहीं; एषाम्—उनका; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; धीः—चेतना; श्व—कुत्ते; शृगाल—सियार; भक्ष्ये—भोजन के मामले में।

किन्तु यदि भगवान् की सेवा में निश्छल भाव से आत्मसमर्पण करने से परमेश्वर की किसी पर विशेष कृपा होती है, तो वह माया के दुर्लभ सागर को पार कर सकता है और भगवान् को जान पाता है। किन्तु जिसे अन्त में कुत्तों तथा सियारों का भोजन बनना है, ऐसे इस शरीर के प्रति जो आसक्त हैं, वे ऐसा नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् के निश्छल भक्त भगवान् की महिमा से परिचित होते हैं और वे इतना तो समझते ही हैं कि ईश्वर कितना महान् है और उनकी विविध शक्तियों का कितना विस्तार है। जो इस नश्वर शरीर के प्रति आसक्त रहते हैं, वे तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। यह सारा संसार, देहात्मबुद्धि की अवधारणा के कारण, तत्त्व ज्ञान से अपरिचित है। भौतिकतावादी व्यक्ति न केवल अपने भौतिक शरीर वरन् अपने बच्चों व सम्बन्धियों, जाति वालों, देशवासियों के शरीरों के कल्याण-कार्य में सदैव व्यस्त रहता है। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति भले ही राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से परमार्थ के कई प्रकार के कार्य करते हों, किन्तु इनका यह सारा कार्य देहात्मबुद्धि की गलत धारणा से ऊपर नहीं उठ पाता। अतः जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि की भ्रांत धारणा से मुक्त नहीं हो लेता, उसे तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और इस तत्त्व-ज्ञान के बिना भौतिक सभ्यता की उन्नति की सारी

चमक-दमक व्यर्थ है ।

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योग-मायां
 यूयं भवश्च भगवानथ दैत्य-वर्यः ।
 पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
 प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥ ४३ ॥
 इक्ष्वाकुरैल-मुचुकुन्द-विदेह-गाधि--
 रघ्वम्बरीष-सगरा गय-नाहुषाद्याः ।
 मान्धात्रलर्क-शतधन्वनु-रन्तिदेवा
 देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥ ४४ ॥
 सौभर्युतङ्क-शिबि-देवल-पिप्पलाद--
 सारस्वतोद्धव-पराशर-भूरिषेणाः ।
 येऽन्ये विभीषण-हनूमदुपेन्द्रदत्त--
 पार्थाष्ट्रिषेण-विदुर-श्रुतदेव-वर्याः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

वेद—इसे जानो; अहम्—मैं; अङ्ग—हे नारद; परमस्य—परमेश्वर की; हि—निश्चय ही; योग-मायाम्—शक्ति; यूयम्—तुम;
 भवः—शिव; च—तथा; भगवान्—परम देव; अथ—भी; दैत्य-वर्यः—नास्तिक के कुल में उत्पन्न भगवद्भक्त, प्रह्लाद महाराज;
 पत्नी—शतरूपा; मनोः—मनु की; सः—वह; च—भी; मनुः—स्वायंभुव; च—तथा; तत्-आत्म-जाः च—तथा उनकी सन्तानें
 यथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, देवहूति इत्यादि.; प्राचीनबर्हिः—प्राचीनबर्हि; ऋभुः—ऋभु; अङ्गः—अंग; उत—भी; ध्रुवः—ध्रुव;
 च—तथा; इक्ष्वाकुः—इक्ष्वाकु; ऐल—ऐल; मुचुकुन्द—मुचुकुन्द; विदेह—महाराज जनक; गाधि—गाधि; रघु—रघु;
 अम्बरीष—अम्बरीष; सगराः—सगर; गय—गय; नाहुष—नाहुष; आद्याः—इत्यादि; मान्धातु—मान्धाता; अलर्क—अलर्क;
 शतधनु—शतधनु; अनु—अनु; रन्तिदेवाः—रन्तिदेव; देवव्रतः—भीष्म; बलिः—बलि; अमूर्त्तरयः—अमूर्त्तरय; दिलीपः—
 दिलीप; सौभरि—सौभरि; उतङ्क—उतङ्क; शिबि—शिबि; देवल—देवल; पिप्पलाद—पिप्पलाद; सारस्वत—सारस्वत; उद्धव—
 उद्धव; पराशर—पराशर; भूरिषेणाः—भूरिषेण; ये—जो; अन्ये—अन्य; विभीषण—विभीषण; हनूमत्—हनुमान; उपेन्द्र-दत्त—
 शुकदेव गोस्वामी; पार्थ—अर्जुन; आष्ट्रिषेण—आष्ट्रिषेण; विदुर—विदुर; श्रुतदेव—श्रुतदेव; वर्याः—अग्रणी, श्रेष्ठ ।

हे नारद, यद्यपि भगवान् की शक्तियाँ अज्ञेय तथा अपरिमेय हैं फिर भी शरणागत जीव होने के नाते, हम समझ सकते हैं कि वे योगमाया की शक्तियों के द्वारा किस प्रकार कार्य करते हैं। इसी प्रकार भगवान् की शक्तियाँ सर्वशक्तिमान शिव, नास्तिक कुल के महान् राजा प्रह्लाद महाराज, स्वायंभुव मनु, उनकी पत्नी शतरूपा, उनके पुत्र तथा पुत्रियाँ यथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूति, देवहूति तथा प्रसूति; प्राचीनबर्हि, ऋभु, वेन के पिता अंग, महाराज ध्रुव, इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, महाराज जनक, गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, नाहुष, मान्धाता, अलर्क, शतधनु, अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप, सौभरि, उतङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनुमान, शुकदेव गोस्वामी, अर्जुन, आष्ट्रिषेण,

विदुर, श्रुतदेव इत्यादि को भी ज्ञात हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, भूतकाल या वर्तमान काल में भगवान् के जितने भक्त हुए हैं तथा भविष्य में जितने भी भक्त होंगे, वे सब भगवान् की विभिन्न शक्तियों के साथ-साथ उनके नाम, गुण, लीला, संगी, व्यक्तित्व इत्यादि की शक्तियों से अवगत रहते हैं। वे उन्हें किस प्रकार जानते हैं ? निश्चय ही, ऐसा न तो कल्पना से और न ज्ञानेन्द्रियों की सीमित सहायता से होता है। सीमित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (चाहे शारीरिक इन्द्रियाँ हों या भौतिक सूक्ष्मदर्शी तथा दूरदर्शी जैसे उपकरण) हम अपनी आँखों के सामने प्रकट होने वाली भगवान् की भौतिक शक्तियों को भी ठीक से नहीं जान पाते। उदाहरणार्थ, विज्ञानियों की गणना से परे कोटि-कोटि ग्रह (लोक) विद्यमान हैं किन्तु ये भगवान् की भौतिक शक्ति के ही स्वरूप हैं। विज्ञानी ऐसे भौतिक प्रयासों द्वारा भला भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति के विषय में जानने की क्या आशा कर सकता है ? “यदि” तथा “हो सकता है” जैसी दर्जनों कल्पनाओं से ज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती—उल्टे, ऐसी कल्पना से ईश्वर का अस्तित्व न होना बताया जाएगा और निराशा ही हाथ लगेगी और बात आई गई कर दी जाएगी। अतः बुद्धिमान मनुष्य अपने लघु मस्तिष्क की सीमा से परे विषयों के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं करता, अपितु वह परमेश्वर को आत्म-समर्पण करना सीखता है, क्योंकि वही उसे वास्तविक ज्ञान तक पहुँचा सकता है। उपनिषदों में स्पष्ट उल्लेख है कि मात्र कठिन श्रम करने तथा मस्तिष्क पर जोर लगाने से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को कभी नहीं जाना जा सकता, न ही उसे कल्पना तथा शब्दजाल द्वारा जाना जा सकता है। ईश्वर को तो वही जान पाता है, जो उनकी शरणागत है। यहाँ पर जीवों में सर्वोच्च, ब्रह्माजी, ने इस सत्य को अंगीकार किया है। अतः प्रयोगात्मक ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करने में शक्ति का अपव्यय करना छोड़ देना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के प्रति समर्पित होकर तथा यहाँ पर वर्णित अधिकारी पुरुषों की प्रामाणिकता को स्वीकार करके ज्ञान-लाभ करे। भगवान् अनन्त होने के कारण योगमाया की कृपा से उसे स्वयं को जानने में शरणागत की क्रमशः सहायता करते हैं।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देव-मायां

स्त्री-शूद्र-हूण-शबरा अपि पाप-जीवाः ।

यद्यद्भुत-क्रम-परायण-शील-शिक्षा-

स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुत-धारणा ये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—ऐसे पुरुष; वै—निस्सन्देह; विदन्ति—जानते हैं; अतितरन्ति—आगे निकल जाते हैं; च—भी; देव-मायाम्—भगवान् की आच्छादन शक्ति; स्त्री—यथा स्त्री; शूद्र—श्रमिक वर्ग के लोग; हूण—पर्वती लोग; शबरा:—साइबेरिया वासी या शूद्रों से भी निम्न; अपि—यद्यपि; पाप-जीवाः—पापी जीव; यदि—बशर्ते कि; अद्भुत-क्रम—आश्चर्यजनक कार्य करने वाला; परायण—भक्त; शील—आचरण; शिक्षा:—के द्वारा प्रशिक्षित; तिर्यक्-जनाः—वे भी जो मनुष्य नहीं हैं; अपि—भी; किम्—क्या; उ—कहा जाय; श्रुत-धारणा:—जिन्होंने भगवान् के विषय में सुनकर भगवान् का भाव ग्रहण किया है; ये—वे ।

पापी जीवन बिताने वाले समुदायों में से भी शरणागत लोग, जैसे स्त्री, शूद्र, हूण तथा शबर, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी, तत्त्व ज्ञान के विषय में जान सकते हैं। वे भगवान् के शुद्ध भक्तों की शरण में जाकर तथा भक्तिपथ पर उनके पदचिह्नों का अनुसरण कर माया के चंगुल से छूट जाते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी प्रश्न पूछा जाता है कि भगवान् की शरण में किस प्रकार जाया जाय। भगवद्गीता (१८.६६) में भगवान् ने अर्जुन से कहा कि वह उनकी शरण में आए, अतः जो लोग ऐसा नहीं करना चाहते, वे प्रश्न करते हैं कि ईश्वर है कहाँ जिसकी शरण में वे जाएँ! ऐसे प्रश्नों का यहाँ उपयुक्त उत्तर दिया गया है। श्रीभगवान् भले ही आँखों के समक्ष उपस्थित न हों, किन्तु यदि कोई सच्चे दिल से मार्ग-दर्शन का इच्छुक है, तो भगवान् कोई प्रामाणिक व्यक्ति भेज सकता है, जो उसे भगवान् के धाम का ठीक ठीक रास्ता बता सके। आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने के लिए किसी भौतिक योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। भौतिक जगत में यदि कोई किसी विशेष सेवा (नौकरी) को अपनाता है, तो उसके पास इस के लिए विशेष योग्यता भी होनी चाहिए। इसके बिना मनुष्य नौकरी के लिए अयोग्य रहता है। किन्तु भगवद्भक्ति के लिए जिस एकमात्र योग्यता की आवश्यकता है, वह है समर्पण (शरण में जाना)। यह समर्पण अपने हाथ की बात है। यदि मनुष्य चाहे तो तुरन्त समर्पण कर दे और उसी समय से उसका आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है। ईश्वर का प्रामाणिक प्रतिनिधि ईश्वर के ही समान श्रेष्ठ है अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर का प्रेमी प्रतिनिधि अधिक दयालु और अधिक सरलता से प्राप्य है। पापात्मा भगवान् के पास सीधे नहीं पहुँच पाता, किन्तु ऐसा पापी मनुष्य भगवद्भक्त के पास सरलता से पहुँच सकता है। यदि कोई ऐसे भगवद्भक्त के मार्गदर्शन में चलना

स्वीकार कर ले, तो उसे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो सकता है; वह भी दिव्य शुद्ध भगवद्भक्त बन सकता है और मुक्त होकर भगवान् के धाम लौट सकता है जहाँ नित्य सुख प्राप्त है।

अतः इच्छुक व्यक्ति के लिए तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति तथा संसार के अनावश्यक, वृथा-संघर्ष से मुक्ति तनिक भी कठिन नहीं हैं। हाँ, उनके लिए ये अवश्य कठिन हैं, जो शरणागत नहीं हैं, मात्र व्यर्थ के कल्पनाकारी हैं।

शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोध-मात्रं

शुद्धं समं सदसतः परमात्म-तत्त्वम् ।

शब्दो न यत्र पुरु-कारकवान् क्रियार्थो

माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ।

तद् वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो

ब्रह्मेति यद्विदुरजस्र-सुखं विशोकम् ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—नित्य; प्रशान्तम्—शान्त; अभयम्—निर्भय; प्रतिबोध-मात्रम्—भौतिक चेतना के बिल्कुल विपरीत चेतना; शुद्धम्—शुद्ध, मलरहित; समम्—भेद रहित; सत्-असतः—कारण तथा कार्य का; परमात्म-तत्त्वम्—आदि कारण का नियम; शब्दः—काल्पनिक ध्वनि; न—नहीं; यत्र—जहाँ; पुरु-कारकवान्—सकाम कर्म देने वाला; क्रिया-अर्थः—यज्ञ के हेतु; माया—माया; परैति—भग जाती है; अभिमुखे—के समक्ष; च—भी; विलज्जमाना—लज्जित होकर; तत्—वह; वै—निश्चय ही; पदम्—परम अवस्था; भगवतः—श्रीभगवान् का; परमस्य—परम; पुंसः—पुरुष का; ब्रह्म—ब्रह्म; इति—इस प्रकार; यत्—जो; विदुः—विदित; अजस्र—असीम; सुखम्—सुख; विशोकम्—शोकरहित।

परब्रह्म के रूप में जिसकी अनुभूति की जाती है, वह शोकरहित असीम आनन्द से युक्त है।

यह निश्चय ही परमभोक्ता भगवान् की अनन्तिम अवस्था है। वह शाश्वत रूप में सारे विघ्नों से रहित तथा निर्भय है। वह पदार्थ नहीं, अपितु परिपूर्ण चेतना है। वह संदूषण मुक्त है, भेदरहित है और समस्त कारणों तथा कार्यों का आदि कारण है, जिसमें सकाम कर्मों के लिए न तो यज्ञ करना होता है और न जिसके सामने माया ठहरती है।

तात्पर्य : परमभोक्ता भगवान् ही परब्रह्म या परम आश्रय है, क्योंकि वही समस्त कारणों का कारण है।

इस भौतिक संसार की भ्रान्त धारणा से नितान्त भिन्न होने के कारण निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार पहला चरण है। दूसरे शब्दों में, निर्गुण ब्रह्म, ब्रह्म का लक्षण है, जो भौतिक विविधता से भिन्न है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार प्रकाश अंधकार का प्रतिरूप है, किन्तु प्रकाश में विविधता है, जिसे प्रकाश की ओर अग्रसर होने वाले ही जान पाते हैं; इस तरह ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्मज्योति के स्रोत, पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् का अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनन्तिम स्रोत का परम साक्षात्कार है। इस प्रकार ब्रह्म के साक्षात्कार में, पहले भौतिक उन्माद की अपेक्षा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार सम्मिलित रहता है। भगवान् तो ब्रह्म-साक्षात्कार की तीसरी अवस्था है। जैसाकि प्रथम स्कंध में वर्णित है, मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्म के तीनों स्वरूपों—ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् को जाने।

प्रतिबोध-मात्रम् सांसारिक बोध से सर्वथा विपरीत अनुभूति है। पदार्थ में भौतिक क्लेश होते हैं, अतः ब्रह्म के प्रथम बोध में ऐसे भौतिक उन्माद का निषेध होता है और उसमें जन्म, मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे की छरपराहट से सर्वथा भिन्न शाश्वत अस्तित्व की अनुभूति होती है। यह निर्विशेष ब्रह्म की प्रारंभिक अवधारणा है।

परमेश्वर हर वस्तु का परम आत्मा है, अतः परम अवधारणा में प्रेम का बोध होता है। प्रेम का बोध आत्मा से आत्मा के सम्बन्ध के कारण होता है। पिता अपने पुत्र से प्रेम करता है, क्योंकि पुत्र तथा पिता में निकटता का कोई सम्बन्ध होता है। किन्तु भौतिक जगत में जिस प्रकार का प्रेम है, वह उन्माद से भरा हुआ होता है। जब भगवान् से भेंट होती है, तो वास्तविक प्रेम के कारण पूर्ण प्रेम प्रकट होता है। वह देह तथा मन की भौतिकता के द्वारा प्रेम किये जाने की वस्तु नहीं, अपितु समस्त जीवात्माओं के लिए पूर्ण, निरावृत, शुद्ध प्रेम की वस्तु है, क्योंकि वह हर एक के हृदय में स्थित परमात्मा स्वरूप है। मुक्त अवस्था में भगवान् के लिए पूर्ण प्रेम उमड़ता है।

इस तरह शाश्वत सुख की अजस्र धारा प्रवाहित होती है और उसके बन्द होने की कोई आशंका नहीं रहती जैसा हम भौतिक संसार में अनुभव कर चुके होते हैं। भगवान् का सम्बन्ध अविच्छिन्न होता है, अतः उसमें न शोक है, न भय। ऐसा सुख शकों में अवर्णनीय है और यज्ञों तथा व्यवस्था के द्वारा सकाम कर्मों के करने से ऐसा सुख उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु हमें यह भी जान लेना चाहिए कि इस श्लोक में परम पुरुष, भगवान् के साथ जिस अविच्छिन्न सुख के आदान-प्रदान की चर्चा है, वह उपनिषदों की निर्गुण विचारधारा से बढ़कर है। उपनिषदों में किया गया वर्णन न्यूनाधिक, वस्तुओं की भौतिक अवधारणा की एक प्रकार से अनदेखी है, किन्तु यह परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों की अस्वीकृति नहीं है। यहाँ पर भौतिक तत्त्वों के विषय में उसी कथन की पुष्टि हुई है; वे सभी दिव्य तथा

भौतिक कल्मष से रहित हैं। यही नहीं, मुक्त जीव भी इन्द्रियों से रहित नहीं हैं अन्यथा उनके बीच अविच्छिन्न दिव्य सुख का आदान-प्रदान असम्भव होता। भगवान् तथा भक्त दोनों ही की सारी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मष से रहित (शुद्ध) हैं। इसका कारण यह है कि वे भौतिक कारण तथा कार्य से परे हैं, जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है (*सद्-असतः परम्*)। वहाँ पर माया का वश नहीं चलता, क्योंकि भगवान् तथा उनके दिव्य भक्तों के समक्ष माया लजाती है। भौतिक जगत में इन्द्रियों के कार्य-कलाप शोकरहित नहीं होते, किन्तु यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि भगवान् तथा भक्तों की इन्द्रियाँ शोकरहित हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक इन्द्रियों में स्पष्ट अन्तर है और मनुष्य को चाहिए कि भौतिक अवधारणा के कारण आध्यात्मिक इन्द्रियों की अवहेलना न करते हुए इसे समझे।

भौतिक जगत में इन्द्रियाँ अविद्या से पूर्ण रूप से प्रभावित होती हैं। विद्वानों ने प्रत्येक दशा में इन्द्रियों की भौतिक अवधारणा से शुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया है। भौतिक जगत में आत्मतृष्टि के लिए इन्द्रियों को काम में लाया जाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत में इनका उपयोग उन प्रयोजनों के निमित्त जिसके निमित्त ये मूल रूप में बनी है, अर्थात् परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। ऐसे ऐन्द्रिय कर्म स्वाभाविक हैं, अतः भौतिक कल्मष से अप्रभावित रहकर उन से अविच्छिन्न इन्द्रियतृप्ति होती है क्योंकि इन्द्रियाँ आध्यात्मिकता के कारण शुद्ध होती हैं। फलस्वरूप ऐसी तृप्ति का दिव्य आदान-प्रदान होता रहता है। चूँकि ऐसे कार्य अनन्त हैं और लगातार बढ़ते जाते हैं, अतः भौतिक प्रयासों या कृत्रिम व्यवस्थाओं की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। ऐसे दिव्य सुख को *ब्रह्म सौख्यम्* कहा जाता है, जिसका स्पष्ट उल्लेख पंचम स्कंध में होगा।

सध्वयङ् नियम्य यतयो यम-कर्त-हेतिं ।

जह्युः स्वराडिव निपान-खनित्रमिन्द्रः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सध्वयङ्—कृत्रिम कल्पना या चिन्तन; नियम्य—वश में करके; यतयः—योगीजन; यम-कर्त-हेतिम्—आध्यात्मिक अनुशीलन की प्रक्रिया; जह्युः—त्याग दी जाती है; स्वराट्—पूर्णतया स्वतन्त्र; इव—सदृश; निपान—कुँआ; खनित्रम्—खोदने का कष्ट; इन्द्रः—वर्षा का नियामक देवता।

ऐसी दिव्य अवस्था में ज्ञानियों तथा योगियों द्वारा न तो कृत्रिम रीति से मन को वश में करने की, न ही कल्पना या चिन्तन की आवश्यकता रहती है। मनुष्य ऐसी विधियों को उसी प्रकार

त्याग देता है, जिस प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र कुँआ खोदने का कष्ट नहीं उठाता।

तात्पर्य : कोई गरीब आदमी पानी की चाहत के कारण कुँआ खोदता है और खोदने का कष्ट झेलता है। इसी प्रकार जिनका दिव्य बोध कमजोर है, वे या तो मानसिक चिन्तन करते हैं या इन्द्रियों को वश में करके ध्यान करते हैं। किन्तु उन्हें इसका ज्ञान नहीं होता कि जब कोई परम पुरुष, भगवान् की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में संलग्न होता है, तो इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा आत्मसिद्धि एकसाथ प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए परम मुक्त जीवात्माएँ भगवान् के कार्यकलापों को सुनने और जपने की इच्छुक रहती हैं। इस प्रसंग में इन्द्र का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। स्वर्ग का राजा इन्द्र इस जगत में बादल लाने की व्यवस्था करने तथा वर्षा कराने के लिए नियंत्रणकारी देवता है, अतः उसे अपनी व्यक्तिगत जलपूर्ति के लिए कुँआ खोदने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उसे अपने लिए कुँआ खोदना हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं, उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो चुका है, अतः उनके लिए भगवान् का वास्तविक स्वभाव जानने या उनके कार्यकलापों को ज्ञात करने के लिए कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। न ही ऐसे भक्तों को भगवान् की काल्पनिक या वास्तविक सत्ता के विषय में चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। भगवद्भक्ति में लगे रहने के कारण, शुद्ध भक्त पहले से ही कल्पना तथा चिन्तन से मिलने वाले फल प्राप्त कर चुके होते हैं। अतः जीवन की सिद्धि इसी में है कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रह जाये।

स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य

भाव-स्वभाव-विहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।

देहे स्व-धातु-विगमेऽनुविशीर्यमाणे

व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; श्रेयसाम्—समस्त कल्याण; अपि—भी; विभुः—स्वामी; भगवान्—भगवान्; यतः—क्योंकि; अस्य—जीवात्मा का; भाव—गुण; स्व-भाव—अपना स्वभाव; विहितस्य—कार्य; सतः—समस्त उत्तम कार्य; प्रसिद्धिः—अन्तिम सफलता; देहे—शरीर के; स्व-धातु—निर्माणक तत्त्व; विगमे—नष्ट होने पर; अनु—बाद में; विशीर्यमाणे—त्याग दिये जाने पर; व्योम—आकाश; इव—समान; तत्र—तत्पश्चात्; पुरुषः—जीवात्मा; न—कभी नहीं; विशीर्यते—नष्ट होता है; अजः—अजन्मा।

जो कुछ भी कल्याणकर है उसके परम स्वामी भगवान् हैं, क्योंकि जीवात्मा जो भी कर्म करता है, चाहे वे भौतिक अथवा आध्यात्मिक अवस्था में किये जाँय, सबका फल देनेवाले

भगवान् हैं। इस प्रकार वह परम उपकारी है। प्रत्येक जीवात्मा अजन्मा है, अतः इस भौतिक तत्त्वमय शरीर के विनष्ट होने के बाद भी, यह शरीर उसी प्रकार बना रहता है, जिस प्रकार शरीर के भीतर वायु रह जाती है।

तात्पर्य : जीव अजन्मा तथा नित्य है और जैसा *भगवद्गीता* (२.३०) में पुष्टि की गई है भौतिक तत्त्वमय देह के विनष्ट होने पर भी जीव नष्ट नहीं होता। जब तक जीव इस संसार में रहता है तब तक उसके द्वारा किये गये कर्मों का फल उसे अगले जीवन में अथवा इसी जीवन में मिलता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के कार्य भी भगवान् द्वारा पाँच प्रकार की मुक्ति के रूप में पुरस्कृत होते हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की कृपा के बिना परमेश्वर का तादात्म्य प्राप्त नहीं कर सकते। *भगवद्गीता* (४.११) में पुष्टि की गई है कि वे मनुष्य को इसी जीवन में उसके वांछित फल प्रदान करते हैं। जीवों को अपनी इच्छा करने की छूट रहती है और भगवान् उन्हें तदनुसार फल देते हैं।

अतः यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अभिलिषित उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल भगवान् की दृढ़ता से भक्ति करे। निर्विशेषवादी भी चाहे तो चिन्तन या मनन करने के बजाय भगवान् की नियमित भक्तिमय सेवा करके आसानी से वांछित फल प्राप्त कर सकता है।

किन्तु भक्तजन स्वभावतः भगवान् के पार्षद रूप में रहना पसन्द करते हैं। वे निर्विशेषवादियों की भाँति तादात्म्य नहीं चाहते। अतः भक्तजन अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार भगवान् के दास, मित्र, पिता, माता तथा युगल-प्रेमी बनकर मनवांछित उद्देश्य की प्राप्ति करते हैं। भगवद्भक्ति की नौ दिव्य विधियाँ हैं—यथा श्रवण, कीर्तन इत्यादि और ऐसी सरल तथा स्वाभाविक भक्ति का अनुसरण करके भक्त उच्चतम सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, जो ब्रह्म के साथ तदाकार होने की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतर हैं। अतः भक्तों को ब्रह्म के विषय में मनन करने अथवा शून्य में कृत्रिम रूप से चिन्तन करने की कभी सलाह नहीं दी जाती।

फिर भी भूल कर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि इस वर्तमान देह के विनाश के बाद, ऐसी दूसरी देह नहीं होती, जिससे भगवान् का साक्षात्कार किया जा सके। जीव तो अजन्मा है। ऐसा नहीं है कि

भौतिक देह की उत्पत्ति के साथ जीव प्रकट होता हो। दूसरी ओर, इस शरीर का विकास जीव की इच्छाओं के फलस्वरूप ही होता है। इस प्रकार जीवात्मा की इच्छा से भौतिक शरीर का प्राकट्य होता है। अतः आत्मतत्त्व से भौतिक शरीर, जीवनी शक्तियों से उत्पन्न होकर अलिप्त में आता है चूँकि जीव शाश्वत है, अतः वह शरीर के भीतर वायु की तरह विद्यमान रहता है। शरीर के भीतर तथा बाहर वायु ही वायु है, अतः जब बाहरी आवरण अर्थात् भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीवित स्फुल्लिंग शरीर में वायु की भाँति रहता चला आता है। परम उपकारी भगवान् के निर्देशानुसार, जीव को उचित आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जो भगवान् से उनकी संगति के अनुसार सारूप्य (समान शारीरिक अंग), सालोक्य (भगवान् के साथ उसी लोक में रहने की समान सुविधा), सार्ष्टि (भगवान् की तरह समान ऐश्वर्य की प्राप्ति) तथा सामीप्य (भगवान् के साथ समान संगति) रूप में होता है।

भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि कोई भक्त भौतिक संगति से अकलुषित तथा अमिश्रित भक्ति मय सेवा का चरण पूरा नहीं कर पाता तो उसे किसी भक्त या धनी के परिवार में उत्पन्न करके, बिना किसी जीवन-संघर्ष के दूसरे जन्म में पुनः अवसर प्रदान किया जाता है, जिससे वह अपने जीवन के शुद्धीकरण की शेषप्रक्रिया को पूरा कर ले और इस देह को त्याग करने पर तुरन्त ही भगवद्धाम को जा सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद कृत *भागवत-संदर्भ* में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। एक बार आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करके भक्त निरन्तर उसी में बना रहता है जैसाकि पिछले श्लोक में कहा जा चुका है।

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्व-भावनः ।

समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—वही; ते—तुमको; अभिहितः—मेरे द्वारा कहा गया; तात—हे पुत्र; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—प्रकट ब्राह्मणों के स्रष्टा; समासेन—संक्षेप में; हरेः—हरि अर्थात् भगवान् के बिना; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु; अन्यस्मात्—कारणस्वरूप; सत्—प्रकट, गोचर; असत्—तात्त्विक; च—तथा; यत्—चाहे जो भी हो।

हे पुत्र, मैंने तुम्हें संक्षेप में प्रकट जगत्‌ओं के स्रष्टा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में बतलाया है। गोचर तथा तात्त्विक अस्तित्व का कारण हरि के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

तात्पर्य : चूँकि सामान्य रूप से हमें नाशवान भौतिक जगत तथा भौतिक जगत पर अधिकार प्राप्त करने में प्रयत्नशील बद्धजीवों का ही अनुभव है, अतः ब्रह्माजी ने नारददेव को बताया कि यह अनित्य जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति की करामात है और यहाँ पर संघर्ष कर रहे बद्धजीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। इन गोचर कार्यकलापों का एकमात्र कारण परमेश्वर, अर्थात् हरि हैं, जो समस्त कारणों के कारणस्वरूप हैं। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भगवान् निर्गुण रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे इन समस्त बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों की अन्तःक्रिया से पृथक् रहने वाले हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में पुष्टि की गई है कि भगवान् अपनी शक्तियों के द्वारा ही सर्वत्र व्याप्त हैं। जो कुछ भी प्रकट रूप में है, वह उनकी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे प्रत्येक वस्तु से विलग रहते हैं। शक्ति तथा शक्तिमान एक होने पर भी एक दूसरे से पृथक् हैं।

भगवान् को इस दुःखमय संसार की सृष्टि के लिए भला-बुरा नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार कि राजा को राज्य में कारागार बनाने के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जो राजसत्ता की आज्ञा उल्लंघन करते हैं उनके लिए कारागार रूपी संख्या अनिवार्य है। इसी प्रकार भगवान् ने इस दुःखमय भौतिक संसार की क्षणिक सृष्टि उन लोगों के लिए की है, जो उनको भूल गये हैं और इस झूठे संसार पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास कर रहे हैं। फिर भी वे पतित आत्माओं को अपने धाम में वापस ले जाने के लिए इच्छुक रहते हैं और इसके लिए प्रामाणिक धर्मशास्त्रों, प्रतिनिधियों तथा अवतारों के रूप में बद्धजीवों को अनेक अवसर प्रदान करते रहते हैं। चूँकि उनका इस भौतिक जगत से कोई प्रत्यक्ष जुड़ाव नहीं है, अतः इसकी सृष्टि के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।

सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुली कुरु ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; भागवतम्—तत्त्वज्ञान; नाम—नामक; यत्—जो; मे—मुझको; भगवता—श्रीभगवान् से; उदितम्—प्रकाशित; सङ्ग्रहः—संकलन; अयम्—उसकी; विभूतीनाम्—विभिन्न शक्तियों का; त्वम्—तुम; एतत्—यह तत्त्वज्ञान; विपुली—विस्तार; कुरु—करो।

हे नारद, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने ही मुझे यह श्रीमद्भागवत नामक तत्त्व-ज्ञान संक्षिप्त रूप में बतलाया था और यह उनकी विभिन्न शक्तियों का संग्रह है। अब तुम स्वयं इस ज्ञान का

विस्तार करो।

तात्पर्य : भागवत का सार लगभग आधे दर्जन श्लोकों में श्रीभगवान् द्वारा वर्णित है, जो आगे दिया गया है। यह तत्त्व-ज्ञान है और भगवान् का समर्थ प्रतिनिधित्व करता है। परम होने के कारण यह श्रीमद्भागवत तत्त्व-ज्ञान से अभिन्न है। ब्रह्माजी को यह ज्ञान सीधे भगवान् से प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने नारद को सौंपा फिर नारद ने श्रीव्यासदेव से उसे विस्तार करने का आदेश दिया। अतः परमेश्वर का दिव्य ज्ञान संसारी झगड़ालू व्यक्तियों द्वारा कपोल-कल्पित नहीं है वरन् यह शुद्ध, शाश्वत, संपूर्ण एवं तीनों गुणों की सीमा से परे है। इस प्रकार भागवत-पुराण दिव्य वाणी के रूप में भगवान् का साक्षात् अवतार है, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह इस ज्ञान को भगवान् से ब्रह्मा, ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास, व्यास से शुकदेव, शुकदेव से सूत गोस्वामी की शृंखला में चली आ रही शिष्य-परम्परा में भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि से प्राप्त करे। वैदिक वृक्ष का पक्व फल, अचानक ऊँची शाखा से पृथ्वी पर गिरकर टूटे बिना एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। अतः जब तक उपर्युक्त परम्परा के प्रामाणिक प्रतिनिधि से इस तत्त्व-ज्ञान को नहीं सुना जाता तब तक मनुष्य इस ज्ञान को समझ नहीं सकता। इसे उन व्यवसायी भागवत वाचकों से नहीं सुनना चाहिए जो श्रोताओं की इन्द्रियों को तुष्ट करके जीविकोपार्जन करते हैं।

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।

सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हरौ—हरि में; भगवति—भगवान् में; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; भक्तिः—भक्ति; भविष्यति—प्रकाशित हो; सर्व-आत्मनि—परम पूर्ण; अखिल-आधारे—सबके आश्रय को; इति—इस प्रकार; सङ्कल्प्य—दृढ़ निश्चय द्वारा; वर्णय—वर्णन करो।

तुम इस भगवद्ज्ञान का संकल्पपूर्वक इस विधि से वर्णन करो जिससे कि सभी मनुष्य, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा समस्त शक्तियों के आधारस्वरूप भगवान् हरि के प्रति दिव्य भक्ति उत्पन्न कर सकें।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत भक्ति तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की वैज्ञानिक प्रस्तुति का दर्शन है। कलियुग के पूर्व भगवान् तथा उनकी शक्तियों को जानने के लिए इस प्रकार के

ज्ञान-ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं थी, लेकिन कलियुग के आरम्भ होते ही, मानव समाज धीरे-धीरे पापाचार—यथा पर स्त्री से अवैध सम्बन्ध, मादक द्रव्य सेवन, द्यूत क्रीड़ा तथा अनावश्यक पशु-हिंसा—से प्रभावित होने लगा। इन आधारभूत पापकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य ईश्वर के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध भूलने लगा। इस तरह मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य के प्रति एक प्रकार से अंधा हो गया। जीवन का परम उद्देश्य, गैरजिम्मेदार पशुवत् जीवन अर्थात् आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—इन चार पाशविक कृत्यों में कृत्रिम ढंग से लगे रहना नहीं है। इस प्रकार अविद्या के अंधकार में ग्रस्त अंधे मानव समाज के लिए *श्रीमद्भागवत* वस्तुओं को उचित परिपेक्ष्य में देखने हेतु दीपक का कार्य करता है। अतः तत्त्व-ज्ञान के वर्णन की आवश्यकता आरम्भ से या परिवर्तनशील सृष्टि के आदिकाल से ही हुई।

जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, *श्रीमद्भागवत* का प्रस्तुतीकरण इतना वैज्ञानिक है कि कोई भी निष्ठावान छात्र इसे ध्यानपूर्वक पढ़ करके या प्रामाणिक वक्ता से नियमित रूप से सुनकर भगवद्ज्ञान को समझ सकता है। इस युग में मानव समाज के सभी लोग जीवन-सुख के पीछे इतने दीवाने हैं कि अंधकार में रहने के कारण उन्हें इतनी भी दृष्टि प्राप्त नहीं है कि वे जानें कि श्रीभगवान् ही समस्त सुख के आगार हैं, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के परम स्रोत हैं (*जन्माद्यस्य यतः*)। भगवान् की भक्ति के द्वारा ही अबाध सुख की पूर्ण उपलब्धि सम्भव है और उन्हीं की संगति से हम इस दुखमय संसार से छुटकारा पा सकते हैं। जो लोग इस भौतिक जगत का सुखोपभोग करना चाहते हैं, वे भी *श्रीमद्भागवत* के महान् ज्ञान की शरण ले सकते हैं और अन्त में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अतः नारद को उनके गुरु उपदेश देते हैं, या यह कहें कि आदेश देते हैं कि वे इस ज्ञान को संकल्प के साथ व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करें। नारदजी को जीविकोपार्जन हेतु *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश देने के लिए कभी नहीं कहा गया, वरन् उनके गुरु ने आदेश दिया कि इसे गम्भीरतापूर्वक प्रचारक की भावना से ग्रहण करें।

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः ।

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

मायाम्—बहिरंगा शक्ति के व्यापार; वर्णयतः—वर्णन करते हुए; अमुष्य—भगवान् के; ईश्वरस्य—श्रीभगवान् के; अनुमोदतः—इस प्रकार प्रशंसित; शृण्वतः—इस प्रकार सुनते हुए; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; नित्यम्—नियमित रूप से; मायया—माया के द्वारा; आत्मा—जीवात्मा; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।

विभिन्न शक्तियों से सम्बन्धित भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन, उनकी प्रशंसा तथा उनका श्रवण परमेश्वर की शिक्षाओं के अनुसार होना चाहिए। यदि नियमित रूप से श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक ऐसा किया जाता है, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवान् की माया से उबर जाता है।

तात्पर्य : किसी विषय का गम्भीर ज्ञान मनचले लोगों के भावों से सर्वथा भिन्न होता है। ये मनचले या मूर्ख लोग बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् के कार्यकलापों को व्यर्थ मानकर अपने को झूठ-मूठ भगवान् की अन्तरंगा शक्ति में उच्च स्तर पर सम्मिलित बता सकते हैं, किन्तु सत्य तो यह है कि भगवान् की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों से सम्बन्धित कार्यकलाप समान रूप से श्रेष्ठ हैं। दूसरी ओर, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के चंगुल से अभी तक छूट नहीं पाये, उन्हें बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् के कार्यकलापों का नियमित श्रवण करना चाहिए। उन्हें मूर्खतावश रासलीला जैसे अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलापों से नहीं आकर्षित होना चाहिए। सस्ते कथावाचक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के विषय में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं और भौतिक सुखोपभोग में मग्न छद्मभक्त गलती से मुक्त जीव की अवस्था पर पहुँचना चाहते हैं और इस प्रकार बहिरंगा शक्ति के चंगुल में बुरी तरह आ फँसते हैं।

इनमें से कुछेक का विचार है कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण का अर्थ है गोपियों के साथ उनके कार्यकलाप या गोवर्धन-धारण जैसी लीला के विषय में सुनना। उन्हें भगवान् के पुरुषावतारों जैसे स्वांश विस्तारों से तथा भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार जैसी लीलाओं से कोई सरोकार नहीं रहता। किन्तु प्रबुद्ध भक्त जानता है कि भगवान् की लीलाओं में, चाहे वह रासलीला हो, चाहे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन या संहार, कोई अन्तर नहीं है। अपितु पुरुषावतारों के रूप में भगवान् के कार्यकलापों का वर्णन उन पुरुषों के लिए है, जो बहिरंगा शक्ति के चंगुल में हैं। रासलीला जैसी कथाएँ बद्धजीवों के लिए न होकर मुक्त जीवों के लिए हैं। अतः बद्धजीवों को चाहिए कि बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में भगवान् की लीलाओं को भक्ति तथा प्रशंसा के साथ सुनें। यह कार्य मुक्त अवस्था में रासलीला के श्रवण के समान उत्तम है। बद्धजीव को कभी भी मुक्त जीवों के कार्यों की नकल नहीं

करनी चाहिए। भगवान् श्री चैतन्य कभी भी सामान्य मनुष्यों के साथ रासलीला नहीं सुनते थे।

श्रीमद्भागवत के प्रथम नौ स्कंध दशम स्कंध को सुनने की भूमिका बाँधते हैं। इस स्कन्ध के अन्तिम अध्याय में पुनः इसकी चर्चा की जावेगी। तीसरे स्कन्ध में यह और अधिक स्पष्ट हो सकेगी। अतः भगवान् के शुद्ध भक्त को चाहिए कि वह *श्रीमद्भागवत* को प्रारम्भ से सुनना प्रारम्भ करे, सीधे दशम स्कन्ध को नहीं। हमसे कई बार कुछ तथाकथित भक्तों ने निवेदन किया है कि हम तुरन्त ही दशम स्कंध को हाथ में लें, किन्तु हम सदैव इससे बचते रहे, क्योंकि हम *श्रीमद्भागवत* को तत्त्व-ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, बद्धजीवों के लिए विषयी ज्ञान के रूप में नहीं। श्रीब्रह्माजी जैसे अधिकारियों ने इसके लिए वर्जित किया है। *श्रीमद्भागवत* को वैज्ञानिक प्रस्तुति के रूप में पढ़कर तथा सुनकर बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति की उत्तरोत्तर माया से मुक्तहोकर दिव्य ज्ञान के उच्चतर पद को प्राप्त हो सकेंगे।

इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत “विशिष्ट कार्यों के लिए निर्दिष्ट अवतार” नामक नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।